

प्रकाशक—उपन्यास बहार आफ़िस

॥ श्रीः ॥



भ्रमर

वा

भीलों की भौंरा

बंगला का अविकल अनुवाद

अनुवादक

पं० गोविन्द प्रसाद शुक्ल

और

"तिलक"

प्रकाशक

उपन्यास बहार आफिस, काशी, बनारस।

प्रथम बार

मूल्य { खादी १।।=)
सा० १)

ग्रन्थमाला संख्या १६

सम्पादक और प्रकाशक
शिवराम दास गुप्त
काशी, बनारस।



जी० के० गुर्जर द्वारा
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस काशी में मुद्रित।
सितम्बर १९२०

॥ श्रीः ॥

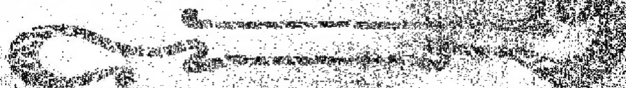
उपहार



श्रीयुत







मूल लेखक का वक्तव्य !

पाठक विचारेंगे कि यह ऐतिहासिक उपन्यास है, किन्तु इसमें एक भी ऐतिहासिक घटना नहीं है, पीछे कोई इस विषय को लेकर हमारे साथ विवाद करें, इस डर से हम इस पुस्तक के प्रारम्भ में यह विदित किये देते हैं।

काव्य-कानन का एक श्रेष्ठ चित्र रँग कर पाठक पाठिकाओं के सामने रखना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। हम इस विषय में कितना कृत-कार्य्य हुए हैं, यह पाठकों ही के विचाराधीन है।

हमारी लिखी हुई "आशालता" उपन्यास को पाठक पाठिकाओं ने सादर ग्रहण किया है, इस समय भी उसी प्रकार "भीलों की भौंरा" को ग्रहण करने से सब परिश्रम सार्थक होगा।

विशेष वक्तव्य।



प्रायः संसार में आज तक जितनी दुर्घटनायें हुई तथा हो रही हैं, उन सब की मुख्य जड़ स्त्रियाँ ही मानी गई हैं। यदि इतिहास के पन्ने उलट कर देखे जायें तो इस बात का पता लग जायगा, कि किस प्रकार स्त्रियों द्वारा ही पुरुषों को अनेक कष्ट सहन करने पड़े हैं, किस प्रकार सोने का संसार एक बार ही मिट्टी हो गया तथा होता जा रहा है। राष्ट्र-विप्लव, समाज की दुर्गति, लोकापवाद, भाई भाई में वैमनस्य, पति-हत्या आदि कितनी ही दुर्घटनायें पढ़ी तथा सुनी गई हैं—वरन् यों कहिये कि प्रायः नित्यप्रति ऐसा कोई भी दिन नहीं जाता होगा, जिसमें स्त्री-सम्बन्धी एक न एक नवीन घटनाओं का पता न लगता हो। जिस प्रकार स्त्रियों में पति-भक्ति, आदर्श-प्रेम तथा अन्य अच्छे आचरण अटलरूप से विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार, ऊँची आकांक्षायें, मानसिक दुर्बलता और वासनाओं की अतृप्ति भी पूर्ण रूप से अपना अड्डा जमाये रहती है।

उदाहरणार्थ जैसे, कैकयी की दुष्टता के कारण दशरथ से प्रतापी राजा को पुत्र वियोग में प्राण विसर्जन करना पड़ा, भगवान् रामचन्द्रजी को १३ वर्ष तक कठिन वनवास के अनेक कष्ट सहन करने पड़े। स्त्री के कारण ही कौरवकुल का नाश हुआ तथा धुरन्धर वीर पाण्डवों को नाना प्रकार की आपदायें झेलनी पड़ीं, स्त्री के कारण ही भीष्म ऐसे ब्रह्मचर्य-धारी वीरशिरोमणि प्राणत्याग करने को बाध्य हुए। कहाँ तक कहा जाय, स्वयं भगवान् शङ्कर, मायापति विष्णु, देवराज

इन्द्र तथा अन्य बड़े २ राजर्षि, ब्रह्मर्षि, ऋषि मुनियों को भी अनेक प्रकार के दुःख भोगते हुए दाँतों चने चबाने पड़े थे। ख़ैर, यह तो हुई शास्त्रोक्त सत्ययुग की बात, अब ज़रा कलियुग की ही बात लीजिए:—महारानी जारीना, महारानी इलिजाबेथ, नूरजहाँ, चञ्चलकुमारी, किशोरी, जोधाबाई, प्रभृति कितनी ही स्त्रियाँ हो गईं, जिनके कारण मुग़ल साम्राज्य, उनके हरमों तथा राजपूताने में ऐसी २ दुर्घटनायें घटी हैं, कि जिनका स्मरण होते ही शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। अस्तु।

प्रायः जिस समय जिस संस्कार का प्राबल्य अधिक होता है, उस समय स्त्रियाँ वैसा ही रूप धारण करती हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर यदि न्याय की दृष्टि से देखा जाय तो इन सब बातों का मुख्य कारण पुरुष ही है। उन्हें सुमार्ग अथवा कुमार्ग पर चलाना, आदर्श तथा विदुषी बनाना पुरुषों पर ही निर्भर है।

सम्भव है, बहुत सी पाठिकायें इस बेढंगी तथा धृष्टतापूर्ण बातों पर नाक भौं सिकोड़ें, दोषारोपण करें, पर उनसे यह नम्र निवेदन है कि इस टीका टिप्पणी पर कुछ भी बुरा न मान अपने आचरण तथा व्यवहार को शुद्ध और पवित्र बनाये रखने का सर्वदा प्रयत्न करें। कारण पुरुषों का सुख दुःख, उन्नति अवनति, मान सम्मान, आदर प्रतिष्ठा आदि समस्त बातें आप लोगों पर ही अवलम्बित हैं।

स्त्री आचरण-सम्बन्धी जितनी आलोचनायें ऊपर की गई हैं, उन सब का ज्वलन्त उदाहरण इस प्रस्तुत पुस्तक में ऐसी उत्तमता के साथ दर्शाया गया है कि पढ़ कर लेखक का हाथ चूम लेने की इच्छा होती है। उपन्यास कानन का चित्र खींच लेखक ने उसमें मधुरता, हृदय-ग्राहता तथा सरसता का ऐसा

अच्छा समावेश किया है कि पढ़ते ही उनकी प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिल जाता है। वंग-साहित्य में आपकी अच्छी ख्याति है। इनकी लिखी अन्य पुस्तकें, आशालता, स्नेहलता आदि बड़े ही आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं।

यों तो हिन्दी-साहित्य-उद्यान में अनेक उपन्यासरूपी 'भौंरे' गुञ्जायमान हैं। परन्तु आज जिस "भीलों की भौंरा" को सादर पकड़, पाठक-पाठिकाओं के दृष्टि-पथ के सम्मुख रक्खी जाती है, वह विचित्र है, उसकी गुञ्जाहट अत्यन्त मधुर, चित्ताकर्षित तथा मनोमुग्धकारी है। मुझे विश्वास है उसकी चञ्चलता, उसकी उद्दण्डता और उसके विलक्षण हाव भाव पर आप अवश्य ही मुग्ध होंगे। तो भी पाठक-पाठिकाओं की रुचि को तृप्त करने में यह कहाँ तक समर्थ हो सकी है, इसका निर्णयभार स्वयं इसकी "चुलबुलाहट" पर ही छोड़ते हैं

मूल लेखक के वक्तव्य को पढ़ने से आप लोगों को भली भाँति मालूम हो जायगा कि यह कोई ऐतिहासिक उपन्यास नहीं, और न कोई इसमें की घटनायें इतिहास से सम्बन्ध रखती हैं। पर तो भी लेखक ने इसे इस प्रकार घटना सूत्र में पिरोया है कि पाठकों को इतिहास के सच्चे आनन्द का कुछ न कुछ रसास्वादन अवश्य ही मिल जायेगा, इसमें सन्देह नहीं।

अन्त में यही निवेदन है कि जिस प्रकार इस माला के अन्य प्रकाशित ग्रन्थों को अपना कर प्रिय पाठक-पाठिकाओं ने अनुगृहीत किया है, उसी प्रकार इस "भीलों की भौंरा" को भी अपने कोमल कर कमलों में स्थान देकर प्रकाशक के परिश्रम को सार्थक करेंगे, ऐसी आशा है। विनीत—

प्रकाशक।



भ्रमर

पहिला परिच्छेद ।

अहमदाबाद के निकट बहुत बड़े निर्जन वन के बीच एक छोटा सा देव-मन्दिर दिखलाई पड़ता है। जिस समय का हाल लिखा जा रहा है उस समय भी यह मन्दिर ठीक इसी प्रकार सिर उठाये वन के बीच खड़ा था। प्रायः पाँच सौ वर्ष बीत गये, किन्तु वह अभी तक ज्यों का त्यों उसी प्रकार दिखलाई पड़ रहा है।

पाँच सौ वर्ष पूर्व की बात है, वैशाख का महीना था। दिन के बारह बज गये थे, सूर्य की कड़ी धूप से धरती आग सी जल रही थी, उसी समय एक घुड़सवार सैनिक ने पसीने में लथ पथ थके हुए घोड़े को इसी मन्दिर के सामने खड़ा कर मन्दिर के भीतर पूजा में लीन एक संन्यासी को बैठा

देख कहा,—"आर्य ! मैं बहुत प्यासा हूँ, यदि कृपा कर थोड़ा जल प्रदान करने का कष्ट स्वीकारें तो बड़ा उपकार मानूँ।"

संन्यासी, सैनिक की प्रार्थना पर ध्यान न दे और भी एकाग्रचित्त हो पूजा करता रहा।

अपनी प्रार्थना निष्फल होते देख सैनिक घोड़े से कूद पड़ा। निकट के वृक्ष की शाखा में घोड़े को लगाम से बाँध, मन्दिर के द्वार पर पहुँचा। प्यास से व्याकुल रहने पर भी एकाएक मन्दिर में प्रवेश करना उचित नहीं समझा। पुनः पूर्ववत् जल के लिये प्रार्थना की। किन्तु इस बार भी संन्यासी ने अनसुनी ही कर दी। उसके इस व्यवहार से सैनिक बड़ा ही दुःखी हुआ। केवल दुःखी ही नहीं, बल्कि संन्यासी पर कुछ क्रोधित भी हुआ। द्वार पर खड़े हो एक बार मन्दिर के भीतर चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, संन्यासी के निकट जलपूर्ण घड़े के अतिरिक्त कहीं भी एक बुन्द जल नहीं देखा। उस जलपूर्ण घड़े को देखते ही सैनिक की प्यास सौ गुणा अधिक बढ़ गयी. अब वह अपने को नहीं रोक सका। अतः मन्दिर में प्रवेश कर संन्यासी के निकट वाले घड़े से जल ले प्यास बुझाने की चेष्टा करने लगा।

उस मन्दिर में संन्यासी के सामने पत्थर की बनी हुई देवी की एक विलक्षण मूर्त्ति विद्यमान थी। सहसा उस प्रतिमा से एक अत्यन्त सुन्दरी बालिका ने निकल कर शीघ्रतापूर्वक सैनिक का हाथ पकड़ लिया और जल पीने से रोकने लगी। सैनिक भयभीत तो नहीं हुआ, किन्तु आश्चर्यित अवश्य हुआ। डर किसे कहते हैं वह जानता ही नहीं था। कहाँ से किस प्रकार आ कर बालिका ने उसका हाथ पकड़ा, इसको भी उसने नहीं देखा। अतः सैनिक जल पीने की चेष्टा करता था,

किन्तु बालिका उसे जल पीने ही नहीं देती थी। यदि वह प्यास से व्याकुल नहीं हुआ रहता तो इतनी चेष्टा भी नहीं करता, लेकिन प्यास के मारे वह इतना व्याकुल हो रहा था कि किसी प्रकार भी मन को रोक रखना उसके लिए अत्यन्त ही कठिन था। अस्तु।

बालिका चुपचाप सैनिक को जल पीने से रोक रही थी। यह देख संन्यासी ने संकेत द्वारा उसे ऐसा करने से रोका। संकेत पाते ही बालिका तुरन्त वहाँ से अन्तर्ध्यान हो गई। उसके जाते ही मन्दिर पुनः अन्धकार सा प्रतिभाषित होने लगा।

सैनिक ने देखा कि देवी की प्रतिमा के ठीक पीछे एक छोटा सा दरवाजा है; बालिका क्षणमात्र में उसी दरवाजे से निकल गई; उसकी इच्छा हुई कि मैं भी उसके पीछे पीछे चलूँ, किन्तु ऐसा करने का साहस नहीं हुआ। मन्दिर में अधिक देर ठहरना अच्छा न समझ सैनिक वहाँ से बाहर जाने को तैयार हुआ। किन्तु उसने देखा कि संन्यासी संकेत द्वारा उसे ठहरने को कह रहे हैं। अतः वह चुपचाप खड़ा हो संन्यासी की पूजा टकटकी लगाये देखने लगा।

दूसरा परिच्छेद ।

सैनिक प्रायः आध घण्टे तक उसी प्रकार मन्दिर में खड़ा रहा। पर तो भी संन्यासी की पूजा समाप्त नहीं हुई। अधिक विलम्ब होते देख, सैनिक ने सोचा—"और कितनी देर तक ठहरा रहूँगा? इस प्रकार यहाँ ठहरने से क्या मतलब? अब समय भी दो पहर से ढल गया। और अधिक विलम्ब होने से संभवतः इसी भयानक वन में रात बितानी पड़ेगी।"

जिस बालिका की मूर्त्ति उसने देखी थी उसे एक बार पुन देखने की उसकी विशेष इच्छा थी। अतः उसने स्थिर किया कि जब तक संन्यासी की पूजा पूरी न होगी तब तक मैं मन्दिर के बाहर जाकर बालिका की खोज कर आऊँ।

वह पुनः मन्दिर से बाहर होने को तैयार हुआ, किन्तु पैर आगे नहीं बढ़े, केवल पैर ही नहीं बल्कि शरीर का कोई भी अङ्ग संन्यासी की आज्ञा टालने को राज़ी नहीं हुआ। उसी समय प्यास से व्याकुल उसका घोड़ा भी हिनहिना उठा। मन्दिर में जाकर सैनिक अपने प्यासे घोड़े को बिल्कुल ही भूल गया था। उसकी हिनहिनाहट सुनते ही उसे उस बेचारे की याद हो आई। तब उसने कुछ ऊँची आवाज़ से पुकारा,—"यदि कोई पास में है, तो कृपा कर मेरे प्यासे घोड़े को थोड़ा जल प्रदान करने का कष्ट स्वीकार करे।" मन्दिर में उसका स्वर ज़ोर से गूँज उठा। वह अपनी आवाज़ से आपही भयभीत, विस्मित और चकित हो गया। संन्यासी ने भी चौंक कर आँखें खोलीं। उन्हें आँखें खोलते देख

सैनिक कुछ बोलना ही चाहता था कि, संन्यासी ने पुनः हाथ उठा कर उसे चुप रहने का संकेत कर कहा :—

" युवक ! आज तुमने धर्म विरुद्ध कार्य किया है—जिससे तुम पर भारी विपत्ति आती, किन्तु एक दिन तुम इस विस्तृत राज्य के अधिपति होओगे। अतः तुम्हारी प्राण-रक्षा करना आवश्यक है। अस्तु, अब घर जाओ, यही माँ की इच्छा, आज्ञा और लीला है।" अन्तिम शब्द कहते कहते संन्यासी ने हाथ हिला उसे घर जाने को कहा। संन्यासी से अनेक बातें पूछने की इच्छा रहने पर भी युवक कुछ पूछ नहीं सका और शीघ्रही मन्दिर से बाहर निकल गया। उस समय उसे ऐसा मालूम हुआ कि मानों किसी ने धक्का देकर उसे मन्दिर से बाहर निकाल दिया, किन्तु आज्ञा इच्छा और लीला ये तीनों शब्द उसके कानों में गूँज रहे थे। सैनिक कुछ देर किं कर्तव्य विमूढ़ हो सीढ़ी पर खड़ा रह पुनः घोड़े की ओर चला—किन्तु ऐं! यह क्या? कैसा आश्चर्य! यह तो वही ज्योतिर्मयी देवमूर्ति!

उसने देखा वही आजानुलम्बिता कृष्णकेश सुशोभिता बालिका उसके प्यासे घोड़े को पानी पिला रही है। यह देख युवक के आनन्द की सीमा न रही। क्योंकि वह बालिका को एक बार पुनः देखने के लिए बहुत ही व्यग्र था। संन्यासी के मुख से अनोखी २ बातें सुन उसके मन में एक नवीन भाव जाग्रत हो उठा था, बालिका से कुछ पूछने की इच्छा रहने पर भी कुछ पूछ न सका। एकाएक बालिका को सामने देख उसने अनुमान किया कि अवश्य ही इस से बहुत सी बातें मालूम हो सकेंगी।

युवक व्यग्रता से बालिका के निकट जा पुनः साहस पूर्वक

बोला,—"बाले, आप कौन हैं ? संन्यासी कौन हैं ? आप लोग कहाँ रहते हैं ? इस मन्दिर में कब से हैं ? आप के और कोई है या नहीं ? संन्यासी जी से फिर कब भेंट हो सकती है ?" इत्यादि अनेक प्रश्न एक साथ ही करता गया। किन्तु बालिका उसके एक प्रश्न का भी उत्तर न दे घोड़े को जल पिलाती ही रही। जब जल पिलाना शेष हुआ तब जलपात्र ले धीरे धीरे मन्दिर की ओर चली, युवक को उसे रोकने का साहस नहीं हुआ। बालिका मन्दिर के निकट आ युवक की ओर मुड़ अपने दाहिने हाथ की अंगुली से उसे लक्ष कर बोली,—"युवक ! सावधान, एक दिन मेरे ही हाथ से तुम्हारी मृत्यु होगी। यही माँ की आज्ञा, इच्छा और लीला है।"

इतना सुनते ही युवक पागल की भाँति उसकी ओर दौड़ा पर उसके पहुंचने के पहिले ही बालिका मन्दिर में घुस गायब हो गई। इसके बाद द्वार पुनः बन्द हो गया। युवक ने मन्दिर के द्वार पर आ जोर २ से धक्का मारना आरम्भ किया, किन्तु सब निष्फल, द्वार किसी प्रकार नहीं खुला, अन्त में निराश हो युवक उस ओर से मुड़ प्रथम द्वार के द्वारा संन्यासी के निकट जाने को तैयार हुआ, किन्तु वह द्वार भी भीतर से बन्द पाया। कई बार धक्का भी लगाया लेकिन वहाँ भी वही हाल, न द्वार ही खुला और न किसी ने कुछ उत्तर ही दिया। सहसा उसी समय युवक के कानों में जोरों के क़हक़हे की आवाज़ गूँज उठी।

जो वीर हृदय कभी भय का नाम भी नहीं जानता था, आज उसी में भय का सञ्चार हुआ। युवक सैनिक ने काँपते हुए हृदय से अपने बँधे घोड़े को खोल उस पर सवार हो ऐंड़ लगायी, घोड़ा ऐंड़ लगाते ही तीर की तरह वेग से छुटा।

तीसरा परिच्छेद ।

कुमारसिंह मारवाड़ देश के सेनापति हैं । उनकी अवस्था के अभी पच्चीस वर्ष भी पूरे नहीं हुए हैं । इतनी कम उम्र में दिल्ली से अहमदाबाद तक उनकी वीरता का डङ्का बज गया था । उसी के प्रताप से मारवाड़ आदि सम्पूर्ण दक्षिण प्रदेशों में वे पूजनीय हैं, राजपूत की वीरता उत्तर भारतवर्ष ही में विशेष विदित थी—किन्तु कुमारसिंह ने उसे सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैला दिया ।

उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मराठे लुटेरों को दमन करने का भार दिल्लीश्वर की ओर से मारवाड़ाधिपति अमरसिंह को सौंपा गया था । अमरसिंह बुढ़ापे तथा रोग शोकादि से दुर्बल हो गये थे, मारवाड़ की गौरव रक्षा की शक्ति अब उनमें नहीं थी, किन्तु इससे मारवाड़ की सुकीर्त्ति में किसी प्रकार का धब्बा नहीं लगने पाया था । क्योंकि राजकुमार कुमारसिंह मारवाड़ के सेनापति थे । राजकुमार कुमारसिंह, पिता के कनिष्ठ पुत्र ही होने के कारण मारवाड़ के सेनापति ही थे युवराज नहीं, इनके बड़े भाई कुमार अजयसिंह अपने एक मात्र पुत्र ललितसिंह को छोड़ अकाल ही में मृत्यु के ग्रास हो चुके थे । वेही ललितसिंह इस समय मारवाड़ के युवराज हैं । अमरसिंह के बाद वे हीं वहाँ के अधिपति होंगे । ललितसिंह की अवस्था इस समय अट्ठारह वर्ष की है, यद्यपि वे युद्ध विद्या विशारद

हैं, किन्तु वीर नहीं और न उनको युद्ध से प्रेम ही है। सर्वदा एकान्त ही में रहना वे अधिक पसन्द करते हैं। पढ़ने की पुस्तक मिल जाने से खाना पीना भी भूल जाते थे।

वे सर्वदा चिन्तित चित्त रहा करते, पर चित्त बड़ा उदार है, दीन दुःखियों के दुःखों को दूर करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। युवराज हो जाने पर भी वे सदा सादे वेशभूषा से ही रहा करते, आडम्बर तो उन्हें छू तक नहीं गया था। यद्यपि सवारी के लिये बड़े बड़े मतवाले हाथी, सुन्दर सजीले तेज घोड़े इत्यादि अनेक वाहन हर समय मौजूद रहा करते थे, किन्तु वे उनको व्यवहार में कभी नहीं लाते और बहुत साधारण वेश में गाँव गाँव प्रजा की देखरेख किया करते थे। दीन, दरिद्रों पर दृष्टि पड़ते ही सहानुभूति प्रगट करते तथा उनके कष्टों के दूर करने की चेष्टा करने को भी तैयार हो जाते थे।

वे अपने चचा कुमारसिंह के साथ भी हार्दिक-स्नेह के साथही पितृ तुल्य भक्ति रखते तथा उनकी आज्ञा को पालन करना अपना कर्तव्य समझते थे। कुमारसिंह भी ललित-सिंह को पुत्र के समान ही प्यार करते थे।

वृद्ध अमरसिंह जी को कई सन्तानें हुई थीं, किन्तु कुमारसिंह को छोड़ सब की सब अकाल ही में स्वर्गीय हो चुकी थीं। यही कारण था कि महाराणा कुमारसिंह को प्राण से बढ़ कर प्यार करते थे। कुमारसिंह और ललित-सिंह में परस्पर सद्भाव देख कर ही यथार्थ में शोक से जर्जर अवस्था भी महाराणा को सुखप्रद हुआ। यही क्यों मारवाड़ निवासी भी सोचते थे कि महाराणा के पीछे भी मारवाड़ का गौरव किसी प्रकार कम नहीं होगा।

उस समय कुमारसिंह के समान वीर पुरुष मारवाड़ भर में कोई दूसरा नहीं था। अहङ्कार का नाम मात्र भी नहीं जानते; हृदय में किसी प्रकार की बुरी वासना नहीं; स्वप्न में भी कभी विषय वासना का ध्यान तक नहीं करते, युद्ध ही उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य और सौर्य वीर्य ही मूल मन्त्र था। वीरता से प्रसिद्धि प्राप्त करना ही एक मात्र लक्ष था। कभी किसी से क्षमा की अभिलाषा नहीं रखते—हर समय सब के प्रसन्न रहने ही से प्रसन्न रहते थे। साधारण सिपाही से लेकर बड़े बड़े सेनानायक भी उनको हृदय से चाहते, और समय पड़ने पर उनके लिये प्राण तक दे देने को तैयार हो जाते। यही कारण था कि इतनी जल्दी कुमार-सिंह अजेय नाम प्राप्त करने में समर्थ हो सके थे।

मराठे लुटेरों से तङ्ग आ कर ही दिल्लीश्वर ने उन्हें दमन करने के लिये महाराणा से अनुरोध किया था। महाराणा ने यह भार कुमारसिंह के हाथ सौंपा। कुमारसिंह ने कर्तव्य-कार्य से कभी पीछे पाँव नहीं रखा था, आज्ञा पाते ही शस्त्रों से सुसज्जित सहस्रों सैनिकों के साथ लुटेरों को दमन करने दक्षिण देश में प्रवेश किया।

फिर क्या था? धावा होते ही महाराष्ट्र गण पद दलित हो किला छोड़ छोड़ भागने लगे, कुमारसिंह को जहाँ जिस जिस स्थान में शत्रुओं के ठहरने का पता लगता वे वहाँ ही शीघ्रता से पहुँच उन्हें उचित दण्ड देते। भला उन सुशिक्षित सैनिकों के आगे अशिक्षित लुटेरे कब तक ठहर सकते? इस प्रकार सम्पूर्ण दक्षिण देश में कुमारसिंह की वीरता प्रसिद्ध हो गयी। घर घर में लुटेरों के सताये पुरुष उनके यश गान करने लगे। लुटेरों के हृदय में भयानक आतङ्क छा गया।

कुमारसिंह ने दक्षिण के प्रधान नगर अहमदाबाद को जीत वहीं अपना डेरा डाला । अतः लुटेरों को क़िला छोड़ जङ्गल का आश्रय लेना पड़ा । लुटेरे कब कहाँ क्या करते हैं यह जानने के लिये कुमारसिंह प्रायः अकेले ही घोड़े पर सवार हो वन में इधर उधर घूमा करते और पता पाते ही फौज ले उन पर आक्रमण करते थे । उस दिन भी इसी प्रकार लुटेरों को ढूंढते ढूंढते वे घोर वन के बीच उस देव-मन्दिर में पहुँच गये । जिसकी घटनाओं का वर्णन पाठक पहिले ही सुन चुके हैं ।

चौथा परिच्छेद ।

कुमारसिंह घोड़े को तेज किये बराबर आगे बढ़े चले जा रहे थे । जब तक वन से निकल नहीं गये तब तक उनमें कर्तव्य-कर्म का ज्ञान पूरा नहीं रहा । मैदान की गर्म हवा लगते ही घोड़े को और भी तेज किया । आज तक जो भाव उनके हृदय में कभी उत्पन्न नहीं हुआ था न मालूम आज क्यों उसी भाव का विकार स्रोत उनके हृदय-स्थल पर प्रवाहित होने लगा ।

उन्होंने घोड़े को तेज करके निकल आने की उत्तेजना से ही उस नवजात भयानक पथ को दूर करने का प्रयास किया। किन्तु किसी प्रकार भी वह भावना दूर न हुई, अन्त में विवश हो चिन्तित चित्त घोड़े को अहमदाबाद की ओर धीरे धीरे अग्रसर किया ।

"वे राजा होंगे" यह किस प्रकार सम्भव है ? यदि हो तो क्या उनका प्राणप्रिय ललित अकाल ही में काल कव-लित होगा ? कौन कह सकता है कि उस पर कोई विपत्ति नहीं आवेगी, या यही कौन कह सकता है कि उसकी अकाल मृत्यु नहीं होगी ? इस असार संसार में जीवन की ऐसी अनिश्चित चीज क्या है ?

उनके मन में इन प्रश्नों की बौछार ने एक साथ हड़तालें करनी शुरू कीं। चिन्ता से चित्त अत्यन्त ही चञ्चल हो रहा था। वे ललित को बहुत ही प्यार करते थे। शोक के साथ ही हृदय में कुछ आनन्द का अनुभव भी होने लगा। "वे राजा होंगे", "अखण्ड साम्राज्य के सम्राट् होंगे", क्या यह सत्य है ? राजा होने से सुख क्या ? मनुष्य राजा होने को इतना व्यग्र क्यों होते हैं ? राजा का जीवन तो सुखप्रद नहीं है, तो भी वे इस भावना को हृदय से अलग नहीं कर सके। इत्यादि अनेक प्रकार के तर्क वितर्क से शोक तथा सुख की आशङ्का ने कुमारसिंह के हृदय को अपनी रङ्गभूमि बना ली, दोनों प्रकार की भावनायें द्वन्दयुद्ध करने लगीं। साथ ही साथ मन में भय का भी कुछ सञ्चार हुआ। क्या सत्य ही उसकी मृत्यु होगी ? क्या सत्य ही उसे काल अकाल ही में उठा लेगा ? क्या वही देवोपम बालिका परम-लावण्यमयी देवकन्या निष्ठुरा हो उनके कोमल हृदय में अपनी तीक्ष्ण कटार घुसे-ड़ेगी ? क्या ये सब सम्भव है ? कदापि नहीं। बिल्कुल असत्य। ये सब उसकी मानसिक दुर्बलता है। हो सकता है कि उसको भय दिखाकर उस देवमन्दिर से बाहर करने के लिये ही उस धूर्त संन्यासी ने यह पाखण्ड किया हो। मनुष्य जीवन के भविष्य दृश्य दिखाने के लिये क्या मनुष्य कभी

समर्थ हो सकता है ? धूर्त लोग मनुष्य को ठगने के लिये ही इस प्रकार की भविष्यद्वाणी तथा ज्योतिष विद्या का भय दिखाते हैं। वे बालक नहीं, स्त्री नहीं, फिर मूर्ख भी नहीं, तब इन सब मिथ्या बातों पर भूलेंगे क्यों ? कैसी विडम्बना है। जिसका चित्त रक्त भरे युद्धक्षेत्र में क्षण भर के लिये भी विचलित नहीं होता, जिसकी तलवार से सम्पूर्ण भारत कांप रहा था। आज उसी का हृदय एक सामान्य संन्यासी तथा भयाविनी बालिका के फेर में पड़ विचलित हो रहा है। हा हन्त ! क्या कुमारसिंह का यह अधःपतन हो रहा है ? वे हृदय की चिन्ता दूर करने को जोर से हँस पड़े साथ ही घोड़े को एँड़े लगा कर तेज निकाला, किन्तु तो भी विविध भावों की चिन्ता ने उनका पिण्ड नहीं छोड़ा। सन्ध्या होतेही होते वे अपने खेमे में जा पहुँचे। इनकी आकृति देख सैनिक विस्मित हुए। किन्तु किसी को कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ। उस रात में सब सेनापति एकत्र हो कुमारसिंह के परिवर्तित भाव का तर्क वितर्क करने लगे। कुमारसिंह ने भी उस रात को किसी से कुछ नहीं कहा।



पाँचवाँ परिच्छेद।

सबेरा होते ही सैनिकों ने सुना कि—"उनका प्रधान सेनापति कुमारसिंह अपना पद-भार सेनापति आनन्दसिंह को देकर आप मारवाड़ वापस जाते हैं।" यद्यपि कुमारसिंह के हठात् देश लौटने का कारण किसी के समझ में नहीं आया, किन्तु तो भी किसी को इस विषय में कुछ पूछ ताछ करने का साहस भी नहीं हुआ।

कुमारसिंह ने सैनिकों को इकट्ठा करके कहा,— "सैनिको! किसी विशेष कारण से मुझे मारवाड़ वापस जाना पड़ा, मेरे लौटते तक मेरे प्रिय मित्र आनन्दसिंह प्रधान सेनापति का कार्य करेंगे, मैं भी यथासम्भव शीघ्र ही लौट आऊँगा। तब तक तुम लोग नये सेनापति का सम्मान करना, मैं तो चला किन्तु अपना मन, यश, सम्पूर्ण मारवाड़ का गौरव तुम्हीं लोगों के हाथ सौंपे जाता हूँ, देखना, जिससे इनकी रक्षा हो और मारवाड़ का गौरव सौ गुणा बढ़े। यही तुम लोगों का कर्तव्य है।" सैनिकों ने इसके प्रत्युत्तर के कुमारसिंह की जयध्वनि से दिशायें गुंजायमान कर दीं।

उसी दिन दोपहर को कुमारसिंह ने सिर्फ़ थोड़े से सैनिकों के साथ मारवाड़ के लिये यात्रा कर दी। इतना शीघ्र इस प्रकार एकाएक यात्रा करने का कारण क्या? क्या कुमारसिंह यथार्थ ही में राजा होने को व्यग्र हुए थे? नहीं, कभी नहीं, क्षण भर के लिये भी उनके मन में यह वासना

नहीं उत्पन्न हुई थी। तब क्या ललितसिंह का सम्वाद पाने ही को वे व्याकुल थे? सम्वाद तो किसी दूत के हाथ भेज कर भी मालूम कर सकते थे फिर इतनी व्यग्रता से देश लौटने का कारण?

उस रात कुमारसिंह को पलभर के लिए भी नींद नहीं आई। केवल एक बार हलकी सी नींद आई थी, पर उसी समय उन्होंने एक स्वप्न देखा, देखते हैं वही बालिका उनके हृदय में अपनी तेज कटार घुसेड़ रही है। हृदय से रक्त की धारा प्रवाहित हो रही है, वे पीड़ा से चीख रहे हैं, वह बालिका राक्षसी रूप धारण किये उसी रक्त को पान कर रही है। नींद खुलते ही वह भयानक स्वप्न तो दूर हुआ, किन्तु उनके हृदय से चिन्ता नहीं दूर हुई। जिस वीर-हृदय से भय भी भय मानता था आज उसी पर भय का अधिकार। नींद खुलते ही वह रक्त-रंजिता कटारधारिणी बालिका सामने मूर्तिमान सी खड़ी प्रतिभाषित होने लगी।

कुमारसिंह को दृढ़ विश्वास हो गया कि इस स्थान में रहने से अवश्य उसके हाथ से प्राण खोना पड़ेगा। जो भय सन्देह मात्र था, वही इस समय देववाणी में परिवर्तित हो गया, जो रणभूमि में हर्षित-चित्त प्राण दे सकता था, वही बालक के हाथ से पशु तुल्य मारे जाने से डरता है। दोनों में भेद है अवश्य, उस समय उसके हृदय में भी दया आती है कुमारसिंह की भी यही अवस्था हुई।

वे उस तरह से मरने को तैयार नहीं। इस देश में इस बालिका का समीपवर्ती होकर रहना पड़ेगा, कौन कह सकता है कि फिर वे उस भयानक स्वप्न को नहीं देख पायेंगे, या यही कौन कह सकता, कि वह मायाविनी बालिका छल से

आज ही उनका रक्तपान नहीं करेगी। इन अनेक चिन्ताओं से उनका हृदय उथल पुथल हो गया एक बार जिस प्रकार वे भयभीत हो उस वन स्थित मन्दिर को छोड़ भागे थे, आज भी ठीक उसी प्रकार अपने स्वामी को छोड़ भागे जा रहे हैं।

छठवाँ परिच्छेद।

मारवाड़ के निकट आकर कुमारसिंह सोचने लगे—"क्या कह कर महाराज से मिलूँगा, इस प्रकार सेनाओं को छोड़ भाग आने का क्या कारण बताऊँगा। वे एक सामान्य संन्यासिनी बालिका के डर से छोड़ भागे हैं यह मालूम हो जाने से उनके लिये लज्जा की सीमा नहीं रहेगी। जिसके डर से भारत काँपता था, वह एक सामान्य बालिका से इस प्रकार भयभीत हो! यह कलंक लग जाने के पहले उनका मर जाना ही अच्छा है। मारवाड़ के निकट आ जाने पर कुमारसिंह को इन्हीं सब कारणों से मारवाड़ में प्रवेश करने का साहस नहीं हुआ। पुनः दक्षिण प्रदेश लौट जाने की इच्छा से उन्होंने घोड़े को लौटाया। सेनापति की यह अवस्था देख सैनिकों को बड़ा ही विस्मय हुआ। उनके अव्यवस्थित चित्त का पता धीरे धीरे उन लोगों को लग गया। अतः उन लोगों ने भी चुपचाप थोड़ा लौटा उनका अनुसरण करना ही उचित समझा। कुछ आगे निकल आने पर पुनः कुमारसिंह ने अपने घोड़े को मारवाड़

की ओर मोड़ पैड़ लगाई। पैंड़ लगते ही घोड़ा तीव्र वेग से छुटा, पुनः सैनिक भी उनके अनुगामी हुए। कुमारसिंह महाराणा से मिलने के लिए सीधे राजप्रसाद की ओर चले। राजकर्मचारीगण उन्हें एकाएक अकेले मारवाड़ में देख विस्मित हुए, विशेष कर उनके मुख का भाव देख लोग और भी घबराये। परन्तु उनसे कुछ पूछताछ करने का भी किसी को साहस नहीं हुआ। कुमारसिंह पिता को प्रणाम कर उनकी चरण-धूलि सिर में लगा कर बोले,—"आपके आशीर्वाद से दक्षिण प्रदेश में मरहठों को पूर्ण रूप से पराजित किया वे लोग हार खा दल भङ्ग कर भाग गये। विशेष कोई कार्य न रहने से मैं स्वयं ही यह शुभ समाचार सुनाने आया हूँ। अनेक दिनों से श्रीचरण का दर्शन नहीं पाने से चित्त भी बहुत व्याकुल हो रहा था।"

महाराज ने इस शुभ समाचार को पा पुत्र को हृदय से लगाया और शीघ्र ही बाजे गाजे के साथ नगर में इसे घोषित करने की आज्ञा दी। इतने से वृद्ध महाराणा के मन को सन्तोष नहीं हुआ, उसी समय उन्होंने एक विशेष सभा करने की आज्ञा दी। जब तक सभा में गणमान्य सज्जन उपस्थित हों तब तक महाराणा, कुमारसिंह से मरहठों का पराजित होने का सविस्तार वर्णन सुनते रहे। दो घड़ी बीतने भी नहीं पाये थे कि सभा का कार्य आरम्भ हो गया। भरी सभा में महाराणा अमरसिंह ने अपने सपूत कुमारसिंह को राजा की उपाधि प्रदान की। सैनिकों की जयनाद और तोपों की गड़गड़ाहट से पृथ्वी काँप उठी। नौबतखानों में नगाड़े बजने लगे। सम्पूर्ण नगर आनन्दोत्सव से पूरित हो गया।

सभा में खड़े हुए युवराज ललितसिंह ने अपने चचा कुमारसिंह को सम्बोधित कर कहा,—"आर्य ! निश्चय ही आपने मारवाड़ का नाम गौरवान्वित किया है, दादा जी ने उसी के पुरस्कार स्वरूप राजा की उपाधि से आपको विभूषित किया, प्रजा ने भी नृत्य-गानों से आपको सम्मानित कर अपनी आन्तरिक प्रसन्नता प्रकट की है। पर मेरे पास अभी है ही क्या जिसे प्रदान कर मैं भी कर्त्तव्य पालूँ, खैर जो कुछ है या होगा वही सहर्ष सेवा में अर्पित करता हूँ। आज से आप मारवाड़ के युवराज तथा भावी महाराणा हुए क्योंकि आप ही उसके उपयुक्त पात्र हैं।" पुनः सभा स्थित जनताओं ने एक स्वर से युवराज का जय जय नाद किया महाराणा आनन्द को रोक नहीं सके। ललितसिंह की उदारता से कुमारसिंह का हृदय गद्गद हो गया—उन्होंने आदर तथा प्रेम से युवराज ललितसिंह को हृदय से लगा कर कहा,—"वत्स ! तुम यथार्थ में महाराणा के योग्य हो—जिसका हृदय इस प्रकार उदार तथा विस्तृत है उसका दासानुदास होकर जीवन निर्वाह करने ही में मैं अपने को धन्य समझूँगा।" बहुत ही आनन्द मंगल के बाद उस दिन की सभा भंग हुई। युवराज ललितसिंह और सेनापति कुमारसिंह के जयनाद से नगर गूँज उठा। उस आनन्द-मंगल में कुमारसिंह दक्षिण-प्रदेश के वन की उस मन्दिर वाली संन्यासिनी बालिका की बात बिल्कुल ही भूल गये।

मनुष्य-मन के रहस्य जैसा इस संसार में कोई वस्तु नहीं है। किस समय किस भाव का उदय होता है, कितने सामान्य कारण से भी किस समय कितना अभूतपूर्व परिवर्तन होगा, इसे कौन कह सकता है ? कुमारसिंह जिस

मानसिक उत्तेजना से उत्तेजित हो मारवाड़ आये हैं तथा भ्रमर के मनस्-जगत् में शुभ परिवर्तन होते ही वे उसके मूल कारण को भी भूल गये ।

सातवाँ परिच्छेद ।

जिस समय सभा-भवन में महाराणा ने सभा सङ्गठित की थी ठीक उसी समय भवन के पीछे वाटिका के एक प्रमोद गृह में दो युवतियाँ बैठी आमोद प्रमोद की बातें कर रही थीं उनके आस पास और भी कई युवतियाँ बैठी तथा खड़ी हुई थीं । दोनों ही अपने आमोद प्रमोद की बातों में व्यस्त थीं । उनमें एक की अवस्था अट्ठारह वर्ष और दूसरे की सोलह वर्ष की थी । दोनों ही अत्यन्त रूपवती थीं, किन्तु दोनों के सौन्दर्य में भी कुछ पार्थक्य था । ज्येष्ठा कुमारसिंह की और कनिष्ठा ललितसिंह की विवाहिता पत्नी थीं । दोनों ही प्रधान मन्त्री की कन्या थीं । महाराणा ने मन्त्री को पुरस्कृत करने ही के लिये उसकी दोनों लड़कियों का विवाह अपने पुत्र तथा पौत्र से कराया था ।

सरस्वती के रूप में एक अद्भुत तेज है, उसकी ओर देखने से आँखों में चकाचौंध आ जाती है, हृदय काँप उठता है और सिर में चक्कर आने लगता है । उसकी आँखें चञ्चल, वाक्य उत्तेजित, गति विचित्र, जिसके देखने से ही चित्त में भय तथा रूप सुरापान करने जैसा प्रतीत होता है ।

किन्तु सुभद्रा का रूप उस प्रकार का नहीं था इसमें कोमलता का पूर्ण विकाश और शान्ति का पूर्ण प्रकाश है; उसकी ओर देखने से हृदय में एक स्वर्गीय पवित्र भाव का उदय होता है, मन में भक्ति होती है, देवी कह कर पूजने को जी चाहता है। उसकी आँखों से सरलता स्नेह और दया भी मानो टपकी पड़ती है। मुख पर लज्जा, विनय और मधुरतादि सद्गुण सर्वदा खेला करते हैं। एक सुन्दर कालिका की प्रतिमा के बगल में एक सुन्दर दुर्गा की प्रतिमा स्थापित कर देखने से एक साथ जैसे दोनों भाव उदय होते हैं। सरस्वती तथा सुभद्रा को भी साथ देखने से ठीक वैसा ही भाव मन में उत्पन्न होता है।

कालिका भी सुन्दर और दुर्गा भी सुन्दर। जिस प्रकार कालिका से जगत में भयंकरता का विकाश और दुर्गा से मधुरता का आभास होता है ठीक उसी प्रकार इन सरस्वती माड़वार की कालिका और सुभद्रा दुर्गा है। बस इससे अधिक इन दोनों के रूप गुण का चित्र खींचना हमारी सामर्थ्य के बाहर है।

दोनों सहोदरा आपस में एक दूसरे को प्यार करती, विशेष कर सरला सुभद्रा अपनी बड़ी बहन सरस्वती को प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी। सरस्वती भी अपनी अनुजा को कम प्यार नहीं करती लेकिन—जब से उसका विवाह ललितसिंह से हुआ तब से उसका मनोभाव सुभद्रा के प्रति पहले जैसा नहीं रहा। वह तभी से उससे कुछ असन्तुष्ट सी रहने लगी। यद्यपि सुभद्रा अपनी बहन सरस्वती को सर्वदा ही प्रसन्न रखने की चेष्टा करती थी, किन्तु सब निष्फल। सरस्वती प्रसन्न होने के पहले भीतर ही भीतर ईर्ष्या और भी

ईर्ष्या से जली जा रही थी, हाँ अपने भाव को छिपाये रखने को अवश्य ही प्रयत्न करती थी

ललितसिंह के साथ सुभद्रा का ब्याह होना ही उसका अपराध हुआ। वह भविष्य में मारवाड़ की महारानी होगी। वह इसी चिंता से सरस्वती को हृदय में असह्य कष्ट हो रहा है, मन ही मन कहा करती। बल्कि विष खा कर प्राण खो दूँगी किन्तु छोटी बहन को महारानी कह कर नहीं पुकारूँगी और न उसके आगे सर झुका कर बैठही सकूँगी। वर अपनी अनुजा सुभद्रा को तुच्छ समझ हृदय से घृणा करती ओह यह क्या कभी रानी होने योग्य है? जो केवल एक घुड़की खा कर ही रो देती है वह महारानी कभी नहीं हो सकती। ईश्वर ने मुझ में ही रानी के समस्त गुण दिये है अस्तु, मैं ही महारानी होऊँगी।

आठवाँ परिच्छेद।

वाटिका के आमोद-भवन में बैठी हुई दोनों बहनों से से प्रथम सरस्वती ही ने सैनिकों की जय-ध्वनि सुनी। सुभद्रा जिस समय जो कार्य करती उस समय उसमें ऐसी तल्लीन हो जाती कि उसमें बाहरी ज्ञान कुछ भी नहीं रह जाता, किन्तु सरस्वती में यह बात नहीं। वह कार्य करते समय भी कान को दूसरी ओर खड़े किए रहती, कि कहीं से कोई आवाज़ तो नहीं आती यही कारण था कि उसने सब से पहले सैनिकों कि जयध्वनि सुनी थी।

सरस्वती एक दम खेलना बन्द कर बोली,—"अरी मालती। देख तो सही बाहर इतना शोर गुल क्यों हो रहा है। जान पड़ता है सैनिक लोग जयध्वनि कर रहे हैं। यही नहीं देखो बाजे भी बज रहे हैं। क्या तुझे सुनाई नहीं देता है?

मालती—क्या मैं बाहर जा कर पता लगा आऊँ?

सुभद्रा—"अजी पता क्या लगाना है। छोटे कुमार ने अवश्य किसी लड़ाई में विजय पायी है। उसी शुभ समाचार को प्राप्त कर महाराजा साहब उत्सव मना रहे हैं। आव प्यारी मालती मल्लिका और माधवी, हम सब भी आपस में निज राजोन्नति का आनन्द मनावें"। सुभद्रा की इस वाक्य से सरस्वती का मुख कमल खिल गया। किन्तु मन के भावों को छिपा कर प्रयत्न से कहा—"उन्हों ने तो कितनी ही लड़ाई में विजय लाभ की है, कभी भी तो ऐसा हल्ला नहीं हुआ। सुभद्रा हँस पड़ी, उसकी इस हँसी में क्लेश नहीं अभिमान नहीं और व्यङ्ग नहीं—केवल सरलता की लट और मधुरता की पुट थी, इस प्रकार की हँसी केवल सुभद्रा ही को हँसने आता था। उसी मधुर हँसी में हँस कर उसने कहा,—"दीदी जान पड़ता है छोटे ठाकुर कुल मरहठों को स्वयं पकड़ लाये हैं, आओ हम सब भी चल कर देखें।

सरस्वती—सुभद्रा को तो प्रसन्नता है, पर मुझे चिन्ता होती है, न मालूम क्या हुआ? मालती! जाकर देख तो आव राज-सभा में क्या होता है?

उधर मालती सभा की बातें मालूम करने गई और इधर खेल भी बन्द हुआ। सरस्वती चिन्ता युक्त सिहन सी टहलने लगी। सुभद्रा दो चार सखियों को ले वाटिका की ओर फूल बिनने चली, चलते समय कहती गई,—"दीदी! देखो,

छोटे ठाकुर जिस समय महल में आवेंगे उसी समय हम लोग मंगद से उन पर पुष्प-वृष्टि करेंगी ।"

थोड़ी देर के बाद आकर मालती ने कहा,—"सेनापति कुमारसिंह दक्षिण प्रदेश से विजय प्राप्त कर आये हैं, उनकी वीरता और रणकुशलता से मरहठे हार खाकर भाग गये। महाराणा ने इसी प्रसन्नता में एक विशेष दरबार कर उनको राजा की उपाधि से विभूषित किया है, युवराज ललितसिंह भी उन्हें अपना युवराज पद देना चाहते थे, किन्तु राज कुमारसिंह ने उन्हें ही भावी महाराणा होने की बात कही और प्रेम पूर्वक गले लगाया, इस समय दोनों साथ ही अन्तःपुर आ रहे हैं ।" इतना सुनते ही सुभद्रा बोल उठी,— "देखा दीदी ! मेरा कहना सत्य निकला न ? छोटे ठाकुर विजय प्राप्त कर आये हैं । आओ मालती, और थोड़ा फूल तोड़ें ।"

सखियां सरस्वती को रानी कह सम्बोधन करने लगीं सुभद्रा की प्रसन्नता का तो ठिकाना ही नहीं । वह किस प्रकार हृदय की प्रसन्नता प्रगट करे, इसे ठीक ही न कर सकी, प्रेम से सरस्वती के निकट जा उसे हर तरह से सजाने लगी और सखियों को पुकार कर कहा,—"आओ मालती, मल्लिका और माधवी, दीदी आज रानी हुई हैं हम सब मिल कर उन्हें रानी की साज सजावें । आनन्द बड़ा ही विश्वव्यापी होता है, जहाँ चारों ओर से आनन्द लहरें मारता है वहाँ कोई निरानन्द नहीं रह सकता । यथार्थ में सरस्वती के आन्तरिक प्रसन्नता तो थी नहीं, केवल उस आनन्द की प्रवाहित धारा में उसका निरानन्दपन प्रवाहित हो गया । उसके हृदय में यह चिन्ता बनी रही कि "मैं रानी

होकर ही क्या करूँगी ? वह तो महारानी बनी ही रही।" धीरे धीरे उसके हृदय में यह चिन्ता इतनी प्रबल हो उठी कि हृदय भाव को छिपाये रखना उसके लिये असम्भव हो गया। और कुछ देर सबों के सामने रहने से हृदयभाव छिपा नहीं रहेगा, यह सोच शीघ्रता से वह उस स्थान को छोड़ चलती बनी।

सखियाँ सरस्वती के हृदय भाव को समझ, एक दूसरे का मुख देखने लगीं। सुभद्रा ने कहा—तुम लोग तो उसके स्वभाव को जानती ही हो। चलो, हम लोग छोटे ठाकुर की अभ्यर्थना करें।

सखियाँ उद्यान से महल की ओर चलीं, उन सब की इच्छा थी कि आज हम सब खूब आनन्दोत्सव करेंगी, किन्तु सब की चेष्टा व्यर्थ हुई, सरस्वती के व्यवहार से सुभद्रा को बड़ा ही आन्तरिक दुःख हुआ, उसके सम्मुख आनन्द क्षण भर के लिए भी नहीं ठहर सका, उसके आनन्दित हृदय में विषाद की छाया आ गई, मुख-कमल फीका पड़ गया।

बाहर जैसी आनन्द की लहरें लहरा रही थीं। भीतर वैसी नहीं। कुमारसिंह ने ललितसिंह के साथ अन्तपुर में प्रवेश कर देखा कि उनके सत्कार के लिए तो अच्छी तैयारी हुई है सही। किन्तु उसमें प्राण नहीं, उत्साह नहीं और आनन्द भी नहीं।

नवाँ परिच्छेद ।

एक सुसज्जित कमरे में सुन्दर पलंग पर, दुग्ध फेन सदृश कोमल बिछा-वन पड़ा हुआ है और उस पर श्रीमती सरस्वती देवी लेटी चिन्तासागर में गोते खा रही हैं, आज किसी प्रकार उसके हृदय को शान्ति नहीं। उसके स्वामी राजा हुए, वह रानी हुई, मारवाड़ के घर घर में उसके स्वामी की सुकीर्त्ति छा रही है। नगरवासी आनन्द मङ्गल मना रहे हैं। ऐसे शुभ समय में भी उसे हर्ष नहीं, सुख नहीं, हृदय में नाममात्र की भी प्रसन्नता नहीं।

सरस्वती स्वामी के आने का समाचार पाते ही उठ खड़ी हुई। ऐसे समय में स्वामी के सामने दुःखित रहना लज्जाप्रद समझ बल पूर्वक हृदय को आनन्दित करके मुख पर हँसी लाने की चेष्टा करने लगी। परन्तु सब निष्फल। हृदय का भाव क्या कभी छिपाये छिप सकता है?

कुमारसिंह उसका मुख देखते ही चौंक उठे। उस मुख पर उन्हीं विषाद की छाया देखी। किन्तु, फिर शीघ्र ही आनन्द की रेखा मुख पर पड़ गयी।

बहुत दिनों के बाद भेंट हुई है। सरस्वती चाहे कैसी ही हो परन्तु स्वामी को प्राण से भी अधिक चाहती है। अधिक दिनों पर स्वामी को पा हृदय की चिन्ताओं को भूल सी गयी, स्वामी को सामने देख उसके हृदयतल में प्रेम स्रोत प्रवाहित करने लगा और उसमें हृदय की अन्यान्य

भावनायें प्रवाहित हो गयीं। सुख सम्भाषण से वह दुःख चिन्ता को भूल गयी।

दक्षिण प्रदेश में रह कर कुमारसिंह ने जो जो कार्य किये हैं, उन्हें एक एक कर स्त्री को सुनाने लगे, किन्तु मन्दिर वाली घटना कहते कहते हठात् रुक गये। अनेक कारणों से वे उसे कहना उचित नहीं समझते थे। एक तरह से वे उसे भूल भी गये थे। दक्षिण देश का वृत्तान्त प्रारम्भ नहीं करने से सम्भवतः इतना शीघ्र वे बातें उन्हें स्मरण भी न होतीं। अचानक यह बात स्मरण आ जाने से क्षण भर में उनके हृदय में एक तूफ़ान जैसा बह गया। उन्होंने इस विषय की बातें छोड़ अन्य विषय की बातें छेड़ीं। किन्तु सरस्वती के आगे किसी बात का छिपाना सहज नहीं था। वे कुछ कहने ही को थे कि सरस्वती ने बीच ही में कहा,—"आप सब बातें मुझ से नहीं कहते, आख़िर कहेंगे क्यों? मैं तो दूसरी ठहरी।"

कुमारसिंह—नहीं, नहीं, मैंने तो कुछ छिपाया नहीं सब तो कह ही चुका हूँ।

सरस्वती—नहीं। सब बातें नहीं कहे हो, मत कहो। यदि नहीं कहना चाहते, तो मैं कर ही क्या सकती, मैं तो तुम्हारी दासी हूँ।

कुमारसिंह—हाँ, सत्य है। एक घटना कहना अलबत्ते भूल गया हूँ, जो बिल्कुल निरर्थक है। जिसे कहने से तुम्हें बड़ी हँसी आयेगी।

सरस्वती—हँसूँगी क्यों? यदि नहीं कहने की इच्छा है, तो मत कहो।

अन्त में विवश हो मन्दिर वाली बातें भी उन्हें सरस्वती

को सुनानी ही पड़ी। सरस्वती चुपचाप सुनती रही। मुँह से, एक शब्द भी नहीं निकला, सब बातें शेष हो जाने पर भी वह चुप ही रही।

कुमारसिंह ने सरस्वती के मुख की ओर देख कर कहा,—"क्यों, तुम हँसती क्यों नहीं ?"

सरस्वती—हँसने का समय आने पर हँसूँगी।

दसवाँ परिच्छेद ।



सरी ओर सुभद्रा भी अपने स्वामी के हृदय से लिपटी हुई बड़े बड़े नेत्रों से उनके मुख कमल की ओर टकटकी लगाये सभा का विवरण सुन रही थी। आज रात सभा में जो जो बातें हुईं, उससे उसको लेशमात्र भी कौतूहल नहीं। आज यदि ललितसिंह भिखारी होकर भी अपनी दुःखगाथा प्रेमपूर्वक सरलहृदया सुभद्रा से कहते, तो भी वह इसी प्रकार स्वामी की बातें आनन्दित हृदय से सुनती। वह क्या राजसभा की बातें सुन रही थी ? नहीं नहीं, केवल स्वामी के वचनामृत से अपना कर्ण-रन्ध्र सींच रही थी। वह स्वामी को सम्मुख पा अपने को भूल सी जाती थी।

ललितसिंह ने अपने युवराज पद परित्याग करने की बात कह कर कहा,—"सचमुच मुझे राजा होने की तनिक भी इच्छा नहीं है, यदि चाचा जी स्वीकार कर लेते, तो अच्छा

होता, किसी निर्जन स्थान में तुम्हारे साथ सुख से रह कर जीवन तो व्यतीत करता।"

सुभद्रा ने प्रसन्नतापूर्वक कहा,—"ऐसा ही तो अच्छा होता।"

ललित०—क्या मनुष्य की इच्छा हर समय पूरी ही होती है? मेरी इच्छा करने ही से क्या?

सुभद्रा—तो तुम्हीं महाराणा होना, क्या महाराणा होने की इच्छा नहीं होती?

ललित०—यदि मैं महाराणा होऊँगा, तो क्या तुम भी महारानी न होगी? कह कर आदर और स्नेह से उन्होंने सुभद्रा के कमल मुख को चूम लिया।

सुभद्रा हँसती हुई ज़रा हट कर बोली,—"एक बात कहती हूँ, हँसोगे तो नहीं न?"

ललित०—(हँस कर) क्या—हँसूँगा क्यों?

सुभद्रा—तब सुनो—मैं महारानी नहीं होऊँगी।

ललित०—क्यों?

सुभद्रा—देखो हँसोगे तो नहीं?

ललित०—नहीं।

सुभद्रा—अच्छा, मेरी देह छूकर तो कहो?

ललित—वाह रे! ऐसी भोली स्त्री तो मैंने कहीं भी नहीं देखी। अच्छा, लो देह छूकर ही कहता हूँ—न हँसूँगा, न हँसूँगा, न हँसूँगा, अब तो हुआ?

सुभद्रा—लो कहती हूँ—मैं बराबर स्वप्न देखती हूँ कि मेरी जैसी एक स्त्री आ, प्यार से मेरा हाथ पकड़ कर कहा करती है "सुभद्रा! तू महारानी नहीं हो सकेगी, महारानी मैं हूँगी?"

ललितसिंह हँसे या डरे, अथवा अचम्भित हुए, इसका कुछ ठीक नहीं। किन्तु कुछ देर चुप रह कर बोले,—"वह स्त्री कौन है? क्या तुमने कभी उसे देखा है?"

सुभद्रा—नहीं, वह इस देश की स्त्री नहीं है।

ललित०—कैसे मालूम?

सुभद्रा—उसकी वेशभूषा हम लोगों की जैसी नहीं है।

ललितसिंह यह सुन कर कुछ चिन्तित हुए, किन्तु चिन्ता प्रगट नहीं की। वह इस इच्छा से कि मुझे चिन्तित देख सुभद्रा और भी डर जायगी। प्रगट में बोले,—"स्वप्न की बात कब सत्य होती है, उस पर कभी विश्वास न करना चाहिए, मेरी आदरणीया प्राणेश्वरी, तू ही मारवाड़ की महारानी होगी।"

सुभद्रा कुछ बोली नहीं, धीरे धीरे गर्दन हिला उनके गले से लिपट सो रही।

कुमारसिंह बड़ी प्रसन्नता से स्त्री से मिलने आये थे, उनसे भी अधिक प्रसन्नता से ललितसिंह सुभद्रा को प्यार करने आये थे, किन्तु न मालूम क्यों दोनों के रंग में भङ्ग हो गया।

ग्यारहवाँ परिच्छेद।

राजपुताने के उत्तर ओर से दक्षिण ओर तक कुल प्रदेश पर्वत की शाखा, परिशाखाओं से परिपूर्ण है। जिधर ही दृष्टि डालिये उधर ही अनेकों पर्वत-श्रेणियाँ देखी जाती हैं, इन पर्वतों पर एक असभ्य जाति के लोग निवास करते थे। मुसलमान

राजपूतों के युद्ध में इन लोगों ने प्राणपण से राजपूतों के गौरव तथा भारत-स्वाधीनता की रक्षा की थी, आज भी भारत में इन लोगों का नाम विदित है। भीलों के समान सत्य प्रिय, अतिथि-सेवारत, साहस में अद्वितीय जङ्गली जाति पृथ्वी भर में कहीं भी देखी और सुनी नहीं जाती है।

इन पहाड़ी देशों में प्रायः सब जगह इन भीलों के छोटे २ ग्राम थे। इन सब ग्रामों में कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई दरिद्र और कोई धनशाली ग्राम भी है। प्रत्येक ग्राम में एक प्रधान रहता था और इसी प्रकार दस-पन्द्रह अथवा तीस-चालीस प्रधानों पर एक राजा भी होता था, इसमें भी कोई बलवान् तो कोई निर्बल, कोई धनी तो कोई निर्धन, कोई रोब दाब से रहने वाला तो कोई साधारण रीति से रहने वाला होता था। उनमें जो जिस समय बलिष्ठ होता वह उसी समय अपने पड़ोसी अबल राजा को अपने अधिकार में लाने का यत्न करता। जिस समय की बातें लिखी जा रही हैं, उस समय आपुसी झगड़े मिटा न सकने पर वे मारवाड़ाधिपति महाराणा ही को अपना सम्राट् कहने लगे, अब महाराणा उनके आपुसी झगड़े का निबटेरा कर देते हैं, यदि कोई उनकी आज्ञा भङ्ग करने का साहस करता, तो वह उसी समय उचित दण्ड पाता था।"

इन्हीं सब कारणों से भीलगण कभी दल बाँध कर नहीं रह सके, बलवान् होकर भी वे शक्तिशाली नहीं कहला सके और इसी से उन्हें कभी स्वाधीनता भी न मिल सकी। आज तक उनकी जाति में कोई ऐसा उत्पन्न ही न हुआ जो समस्त भील जाति को एक जाति में परिणत कर सके। इसी से भील गण एक जाति के होकर भी एक जाति नहीं, एक होकर भी

एक नहीं, स्वाधीन होकर भी पराधीन की बेड़ी में जकड़े हुए हैं।"

जिस समय की घटनाओं का वर्णन किया जा रहा है, उस समय समस्त भील जाति धीरे धीरे एकता के सूत्र में बँध रही थी। धर्म ही मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधने की उपयुक्त डोरी है, इसी के द्वारा भील जाति भी क्रम से हिन्दू-धर्म का विस्तृत हृदय से धीरे धीरे आश्रय ग्रहण कर एक जाति हो रही थी।

पहले एक प्रकार से उन भीलों का कोई धर्म ही नहीं था, भिन्न २ ग्रामों के भीलगण भिन्न २ देवताओं की पूजा करते थे, किन्तु उस समय जिस समय का यह समाचार वर्णित हो रहा है, परमानन्द नाम के एक संन्यासी ने इन लोगों के हृदय में हिन्दू-धर्म का बीज आरोपण किया था। उन्हीं के परिश्रम से भीलगण एक होकर शक्ति उपासना और प्रतिमा पूजने लगे। राजपुताने के उत्तर छोर से दक्षिण छोर तक जिसमें भील बसते थे, सभी एक हो कालिका की पूजा करने लगे। परमानन्द स्वामी गाँव गाँव घूम कर महा पूजा की दीक्षा देते थे।

केवल धर्म ही से जाति संगठित नहीं हो सकती। जाति संगठित करने के लिये एक सुयोग्य नेता की भी आवश्यकता होती है। एक धर्म होने से जातित्व घनीभूत होती है सही, किन्तु जातित्व गठित नहीं होती। परमानन्द स्वामी उनके उपयुक्त नेता हुए सही—भीलगण उनकी वाक्य को वेद-वाक्य समझते, देवता कह कर उनकी पूजा करते, आज्ञा पालनार्थ प्राण तक देने को तैयार हो जाते, किन्तु वे हैं संन्यासी, संसार के बन्धन मुक्त भिखारी, नेता होने पर भी

था। संगठित करने का उन्हें समय कहाँ? तो भी वे जिस प्रकार से उन्हें धर्म-सूत्र में बाँध रहे थे, उसी प्रकार उन भीलों को एक जातित्व में परिणत करने के लिये उन सबों के लिए एक उपयुक्त नेता ठीक किया।

बारहवाँ परिच्छेद।

भील जाति का नेता एक बालक है, उसकी अवस्था तेरह वर्ष से अधिक नहीं होगी। तो भी उस बालक का समस्त भील जाति पर पूज्य नेता का प्रभाव है। बूढ़े से युवा, निर्बल से सबल सभी भील सरदारों ने उसे अपना नेता समझ उसकी आधीनता स्वीकार की है। सम्पूर्ण राजपुताने के पहाड़ी देशों के भील-ग्रामों में बालक वीर जुमेलिया का नाम आदर से लिया जाता था। दूर राजपुताने से मैसूर तक भील उसके वाक्य को वेदवाक्य समझ प्रतिपालन करते थे।

जिस वादविवादों से पहले कलह, गृह-विच्छेद और युद्ध होता था, वे आपुसी झगड़े अब नाम को भी नहीं रहे। यदि किसी प्रकार भील सरदारों में अथवा भिन्न भिन्न भील सम्प्रदायों में विवाद उपस्थित भी हो जाता, तो वे लोग महाराणा के निकट न जा अब उसी वीर बालक जुमेलिया के निकट ही प्रार्थी होते हैं और वह उनका न्याय कर देता है,

दोनों दल उसकी आज्ञा के अनुसार ही चलते हैं। बल्कि पहले तो किसी किसी समय में कोई कोई महाराणा की आज्ञा भंग भी कर देते थे, जिसके लिये महाराणा सेना भेज बलपूर्वक आज्ञा पालन कराने का कष्ट उठाते, किन्तु झुमेलिया का आज्ञा उल्लंघन करने का साहस अब तक किसी ने नहीं किया।

भील जैसी जाति है, ठीक उसी के उपयुक्त ही उसको नेता भी मिला है। झुमेलिया, राजकुमार नहीं, सरदार या राजा भी नहीं और न उसको मन्त्री, सभा, सभासद, सेना, हाथी, घोड़े और राजप्रासाद ही है। छोटे से छोटे भील सरदार को एक अच्छा घर, दो एक अच्छे घोड़े तथा दो एक मुसाहब भी अवश्य रहते थे, सरदार के उपयुक्त तड़क भड़क भी रहा करती है। किन्तु सम्पूर्ण भीलों के सरदार वीर झुमेलिया के पास कुछ भी नहीं।

भील जाति जैसी चञ्चला, सरला, साहसी, घूमने वाली, अविलासी और आडम्बरहीन है, ठीक उसी प्रकार उसके नेता भी सरलहृदयी, साहसी और चञ्चल है। वह सर्वदा घूमता ही रहता है। आज राजपुताने के उत्तर में तो कल विन्ध्याचल की गुफा में तो परसों दक्षिण प्रदेश में, जब जहाँ जाता वही गाँव उसकी राजधानी सी प्रतीत होती। उस गाँव के सरदार, उसके मन्त्री, अधिवासी सेना सी ज्ञात होती। झुमेलिया हर समय भीलों ही के साथ नहीं रहता, कभी कभी अदृश्य भी हो जाता था, उस समय भीलगण ढूँढ़ने पर भी उसे नहीं पाते थे।

झुमेलिया भील नहीं है, भीलों जैसा उसका रङ्ग भी काला नहीं है और न उनके जैसा शरीर का गठन ही है, वह राजपूत भी नहीं है। देखने से जान पड़ता कि जिस देश में

उसकी असीम समता उत्पन्न हुई है, उस देश की किसी भी जाति के द्वारा वह सम्भूत नहीं हुआ है, किन्तु वह सबल है, मांस पेशी गोल, शरीर गठीला है, देखने से बोध होता है कि लड़कपन ही से उसने कसरत द्वारा अपना अङ्ग प्रत्यङ्ग दृढ़ किया है। वह तेरह वर्ष की अवस्था का बालक था, किन्तु तलवार और तीर चलाने में वह बड़ा ही पारदर्शी था। उसकी युद्धविद्या निपुणता से प्रतीत होता था कि इस विषय में उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त कर ली है। वह असीम साहसी अद्वितीय शौर्यवान् तथा अत्यन्त रूपवान् था। उसकी सुन्दरता में एक अनिर्वचनीय लालित्य था, उसके मुखकमल की ओर दृष्टि डालने से नेत्र उसी ओर टकटकी लगाये उलझाये रहते, हृदय में प्रेम की धारा प्रवाहित होने लगती, ऐसा सुन्दर वीर बालक किसी ने कभी शायद ही देखा हो!

कमर में पीला वस्त्र, पीठ पर मृगचर्म के ऊपर धनुष वर्म तूणीर, बगल में एक छोटी सी वीणा तथा लटकती हुई तलवार, कमर में शानदार तीक्ष्ण छूरा, गले में स्फटिक तथा रुद्राक्ष की माला झूल रही थी। कभी कभी उसके सिर में रक्त चन्दन और रक्त जवा का हार भी देख पड़ता था। उसके पास न तो कोई सवारी थी और न कभी किसी सवारी पर वह चढ़ता ही था—सदा पैदल ही घूमा करता।

तेरहवाँ परिच्छेद ।

जुमेलिया परमानन्द स्वामी का अत्यन्त प्यारा शिष्य है। ऐसा नहीं होने से क्या एक मामूली लड़का सम्पूर्ण भील जाति का नेता हो सकता? जहाँ जहाँ परमानन्द स्वामी जाते, वहाँ वहाँ उस बालक को साथ लिये जाते। वह उनका द्रव्यादि लेकर उनके पीछे पीछे घूमा करता, पाँच ही वर्ष की अवस्था से जुमेलिया स्वामी सेवा में नियुक्त था।

स्वामीजी ने अनेक यत्न से उसे अनेक विद्याओं की शिक्षा दी थी। सात ही वर्ष की अवस्था से जुमेलिया ने पाणिनी की ओर चित्त लगाया था। दस वर्ष की अवस्था में रघुवंश शकुन्तलादि पढ़ कर बारहवें वर्ष में दर्शन, श्रुति और स्मृति को पढ़ना आरम्भ किया। केवल यही नहीं, वीणा बजाने में भी जुमेलिया पहला निकला। उसकी मधुर संगीत ध्वनि से पर्वतमाला भी विमुग्ध हो जाती। कठोर साधना में तत्पर परमानन्द स्वामीजी ने अपने प्रिय शिष्य को संगीतशास्त्र की शिक्षा बहुत यत्न से दी है—उसकी संगीत वीणा-ध्वनि और वंशी के आलाप से वन के पशु-पक्षी भी मुग्ध हो जाते भीलों का तो कहना ही क्या है!

स्वामीजी ने उसे शारीरिक बल में असीम और युद्ध-विद्या में भी निपुण किया था। मालूम होता है कि गुरु द्रोणाचार्यजी ने जिस प्रकार अपने शिष्य कौरवों और पाण्डवों को परिश्रमपूर्वक युद्ध-विद्या में निपुण किया था,

स्वामीजी ने उससे भी अधिक परिश्रम के साथ शस्त्र-विद्या में जुमेलिया को निपुण किया था।

स्वामी परमानन्दजी संन्यासी हैं। उनके पास यह बालक आया कहाँ से? कई वर्ष पहले स्वामीजी गंगासागर स्नान करने गये थे। स्नान कर तीर्थादि का कुल कार्य परिपूर्ण कर उत्तर की ओर चले। कुछ दूर जाने पर एक शोचनीय दृश्य देख उनके समान संसार-बंधन-विमुक्त संन्यासी का हृदय भी विचलित हो गया। वे खड़े हो गये। देखा एक छोटी सी नदी के किनारे दो मृतक देह पड़ी हैं; जिनमें एक स्त्री और दूसरा पुरुष है। जान पड़ता है दोनों अभागे तीर्थ में आकर ही काल के ग्रास हुए। ज्ञानियों को इसकी चिन्ता नहीं और न दुःख ही होता है, क्योंकि उन्हें तो मालूम है कि मनुष्य-शरीर नश्वर है कभी न कभी नाश होहीगा। स्वामीजी को भी इसकी कुछ चिन्ता नहीं थी, किन्तु उसके साथ एक सुन्दर बच्चे को जो कभी रोता हुआ एक मृत देह से उत्तर नहीं पाने पर पुनः दूसरे शव से लिपटता देख उन्हें एक-बारगी ही स्तम्भित हो जाना पड़ा, उनकी आँखों से जल-धारा बह निकली, वे आँसू रोक कर बोले,—“ओह! अभी तक हृदय इतना दुर्बल!! अभी भी माया!!! बारह वर्ष की साधना भी सांसारिक बन्धन को तोड़ नहीं सकी! अगर नहीं तो इस अनाथ बच्चे को देख दया क्यों? यह संन्यास नहीं ढको-सला है”। बच्चे को पुनः देखने की अनिच्छा करने पर भी वे आगे नहीं बढ़ सके। बच्चे के रोने की कातर ध्वनि श्रवण गोचर होते ही एक बार पुनः फिर कर बच्चे को देखा, बच्चा पूर्ववत् रोता हुआ कभी माता और कभी पिता की देह से लिपटता है।

स्वामीजी खड़े हो पुनः सोचने लगे, "इस समय इस बच्चे को अवश्य कोई हिंसक जन्तु अपना ग्रास बना लेगा। यदि मैं अभी इसकी रक्षा नहीं करता, तो मुझे ही इसका पाप होगा। एक मनुष्य की प्राण रक्षा करना यदि माया है तो उस माया को त्यागने की शक्ति मुझे अभी भी नहीं है, चाहे जो हो, पर इस बालक को निकट के किसी गाँव में ले जाकर पालन करने का प्रबन्ध अवश्य करूँगा।"

अन्त में स्वामीजी फिरे और मृतक देह के निकट जा उस रोते हुए बच्चे को गोद में उठा लिया। बच्चा रोते रोते थक गया था, गोद में आते ही सो गया।

चौदहवाँ परिच्छेद।

कहीं माया उत्पन्न न हो जाय; इस भय से स्वामीजी कभी बालक का मुँह नहीं देखते, गोद में लिये गाँव की ओर शीघ्रता से बढ़ रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि बच्चे के मुख पर पड़ी देखते ही आश्चर्यित होकर बोले,—"देखते हैं, यह शिशु राज-राजेश्वर होगा। मालूम होता है इसी से ईश्वर ने मेरे द्वारा इसकी प्राण-रक्षा की। जो हो मैं इसका पालन भार जिस तिस के हाथ न सौंप किसी राजा ही के हाथ सौंपूँगा।"

इस विचार से स्वामीजी उस बच्चे को लिये भारत के प्रायः सभी राजदरबार में गये। प्रायः सभी राजा लोग

उस बच्चे का पालनभार स्वीकारते, किन्तु उसी को राज-सिंहासन पर आरूढ़ करें, यह किसी ने नहीं कबूल किया। परमानन्द स्वामी किसी को उस शर्त पर लड़का देना ही नहीं चाहते। एक एक करके स्वामीजी प्रायः भारत के सभी राजदरबार में घूम आये, किन्तु उनकी इच्छा के अनुसार किसी ने लड़का लेना स्वीकार नहीं किया। अन्त में स्वामीजी पुनः एक बार उस लड़के के लक्षणों की जाँच कर बोले,—यह बालक अवश्य महाराज होगा। जो हो जब किसी ने इसका पालनभार नहीं स्वीकारा, तो अब मैं ही इसका पालन करूँगा और महाराज होने के उपयुक्त शिक्षा दूँगा।"

उसी दिन से जुमेलिया परमानन्द स्वामी के साथ है, वह स्वामीजी का शिशु प्रियछात्र है, पुत्र कहने से भी कुछ अनुचित नहीं। स्वामीजी ने जिस प्रकार से उसे अनेक विद्याओं की शिक्षा दी है, उसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

जब स्वामीजी ने असभ्य भीलों को शुद्ध सनातन शाक्त-धर्म से दीक्षित कर सब को ऐक्य सूत्र में बाँधा, तब जुमेलिया को उनके ऊपर राजा के पद पर आरूढ़ करने का विचार आने पर सोचा कि जब स्वयं ही यह महाराजा होगा, तो उसे राजा बनाने की चेष्टा करना भी परम कर्तव्य है। ईश्वर इसी प्रकार मनुष्य को बीच में रख कर कार्य करते हैं, इस उद्देश्य को पूर्ण करने की इच्छा से स्वामीजी ने जुमेलिया को भीलों के यहाँ ले जाना आरम्भ कर दिया। उसका वह नाम भी भीलों ही जैसा था, यथार्थ में उन्होंने उसे सब प्रकार से भील ही के रूप में परिणत किया। गुरुदेव का शिष्य समझ कर भीलगण उसका आदर सत्कार

करने लगे। धीरे धीरे भीलगणों का प्रेम उस पर अधिक होने लगा। भीलों ने वैसा रूप, वैसी मधुरता, वैसा स्वभाव तथा वैसा चरित्र और किसी में नहीं पाया था। जुमेलिया को अधिक प्यार करने का एक यह भी कारण था।

पश्चात् जुमेलिया की मधुर वीणाध्वनि, सुललित वंशी निनाद, अपूर्व संगीत, अपूर्व ज्ञान, तीक्ष्ण बुद्धि विकाश, विलक्षण पांडित्य, असीम बल, अद्भुत साहस और अवर्णनीय युद्ध कौशल देख कर सब भीलगण क्रमशः उसके पैर पर झुकने लगे। उसे तेरहवाँ वर्ष पूरा होते ही होते सब भीलों ने अपना नेता स्वीकार किया। अब जुमेलिया सम्पूर्ण भीलों का नायक तथा अधिपति हो गया। यह देख स्वामी परमानन्दजी भील जाति के राज्य से अन्तरहित हो गये।

अब जुमेलिया स्वामीजी के साथ नहीं रहता है। इस समय अकेला ही भीलों के राज्य में घूमा करता है। भीलों को एकट्ठा करने की इच्छा होने पर, अपनी वंशी घुमाता है। उसकी वंशी भीलगण हाथों हाथ एक घर से दूसरे घर में, एक गाँव से दूसरे गाँव में, एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर शीघ्रता से पहुँचाते हैं। वंशी हाथों हाथ चाते ही भीलगण युद्ध की साज सज शीघ्र उसके निकट उपस्थित होते हैं। उन लोगों की धारणा थी कि "बिना कोई कठिन कार्य उपस्थित हुए सेनापति जुमेलिया उनको एकट्ठा नहीं करता।" अब तक केवल एक ही बार उसने सब भीलों को एकट्ठा किया था।

पन्द्रहवां परिच्छेद ।

अहमदाबाद के दक्षिण घने शाल वृक्षों से परिपूर्ण एक विस्तृत वन में एक छोटा सा देवी का मन्दिर स्थापित है। पहले यह मन्दिर देखने में बहुत साधारण सा प्रतीत होता है, किन्तु यथार्थ में यह मन्दिर ही भीलों का प्रधान पूजा स्थान है। वे लोग बीच बीच में आ कर वहाँ पूजा कर जाया करते हैं।

यही मन्दिर सब भीलों का सम्मेलन स्थान है—राजपूताने से लेकर दक्षिण-प्रदेश तक के सब भीलों को मालूम है कि सेनापति जुमेलिया की वंशी देखते ही उस मन्दिर में एकट्ठा होना होगा। अब तक केवल एक ही दिन वैसा हुआ है।

उस मन्दिर में कभी कोई निवास नहीं करता न देवी की पूजा को कोई पुजारी ही निश्चित था और न नित्य उनकी पूजा ही होती थी। भील लोगों की पूजा में पुजारी की आवश्यकता भी नहीं होती। वे लोग पक्षी से लेकर महिष तक सब प्रकार के छोटे बड़े जीव माता के आगे बलिप्रदान करते थे। पुनः मदिरापान में भी त्रुटि नहीं होने पाती थी। रात में आग जला कर सभी उन आगों को ले लेकर खेल करते। जब भीलगण इस मन्दिर में आकर पूजा करते, तब वह विस्तृत निर्जन वन उनकी आनन्द ध्वनि से गूँज उठता था। मन्दिर में कोई था ही नहीं, ऐसा भी नहीं, कभी कभी वहाँ एक पगली देख पड़ती थी। यद्यपि उसकी अवस्था

अभी पूरे तेरह वर्ष की भी नहीं हुई थी, तो भी देखने में वह बड़ी ही सुन्दरी मालूम होती थी। वह साज के परदे में मेघ से ढके चन्द्रमा जैसी शोभा विस्तार करती थी।

उसके सुदीर्घ केश-पाश तेल के बिना धूसरित वर्ण तथा जटाजूट होकर कुछ पीठ और कुछ हृदय पर लोट रहे थे। देह में सहस्रों छिद्र वाला मलिन वस्त्र, और गले में अनेक प्रकार की कई मालायें थीं। उनमें रुद्राक्ष, गजदन्त, स्फटिक और अस्थि की मालायें भी थीं। कभी कभी उसके गले में अड़हुल की माला भी दिखाई पड़ती थी।

पगली के ललाट में सर्वदा सेंदुर पोता रहता था। शरीर भूषण हीन था, किन्तु अनेक प्रकार की वस्तु पहन कर भूषणों की कमी पूर्ण किये देती थी। अनायास पागल को देखने से मन में डर मालूम हुआ करता है, किन्तु इस पगली को देखने से कुछ भी भय नहीं होता, बल्कि उसे फिर बार २ देखने की इच्छा होती है—उसके साथ वार्तालाप करने का जी चाहता है। पगली में एक विशेष गुण यह था कि वह जैसा मधुर गान गाती थी—वैसा कहीं भी सुना नहीं जाता। उसके संगीत का लय, सुर, मधुरता सभी स्वतन्त्र थे, वह केवल कीर्तन गाती। उसके कीर्तन संगीत से पाषाण-हृदय में भी प्रेम तरङ्ग उठने लग जातीं। वन के पशु मुग्ध होकर उस संगीत को सुना करते थे, मयूर उसको श्रवण कर नाचने लगता। जब जो लोग उस मन्दिर में पूजा करने आते थे पहले भौंरा (पगली) को ढूँढ़ते, उसके बिना उनकी पूजा ही पूरी नहीं होती। परन्तु सब समय वे उसे पाते भी नहीं क्योंकि सदा वह मन्दिर में नहीं रहती। किसी को पता भी नहीं कि पगली कहाँ जाती है।

भीलों की अधिक भीड़ के समय प्रायः भौंरा अदृश्य रहा करती।

उसका भौंरा नाम किसने रक्खा इसका, कोई पता नहीं। यदि कोई उससे नाम पूछता, तो उसके उत्तर में वह हँसते-हँसते लोट जाती—अंचल से मुँह छिपाती, ताली बजाती और कहती "मेरा नाम भ्रमर, भौंरा, भमरा और प्रेमानुराग है। इतना कह वह पुनः हँसने लग जाती।

सोलहवाँ परिच्छेद।

यह वही मन्दिर है जहाँ कुमारसिंह उस दृश्य को देख तथा आश्चर्य-कथा को सुन कर दक्षिण देश छोड़ भागे थे। अस्तु! आज इसी मन्दिर में भील, दल बाँधबाँध कर इकट्ठे हो रहे हैं।

कई दिनों से पहाड़ी देशों में बंशी दौड़ रही है।। एक गाँव से दूसरे गाँव, एक पर्वत से दूसरे पर्वत, एक देश से दूसरे देश, हाथों हाथ बंशी फिर रही है। यह अपूर्व दृश्य है। आज बंशी यहाँ है, तो कल सौ कोस दूर, आज इस गाँव में, तो कल उस गाँव में, आज दक्षिण देश में, तो कल उत्तर देश में। मालूम होता है, भील राज्य के कुल प्रदेशों में बंशी व्याप्त हो गई है।

गाँव गाँव में कुहराम मच गया है, सम्पूर्ण भील-प्रदेशों में हलचल मच गयी है। पर्वतमालाओं पर एक अभिनव चेतना का सञ्चार हो रहा है।

भीलगण वंशी पाते ही भोजन त्याग कर समर के साज से सज्जित हो रहे हैं। कृषि छोड़ मन्दिर की ओर दूट पड़े हैं, शिकारी शिकार प्रति तीर चलाने के लिये तैयार होकर भी उसे छोड़ सेनापति की आज्ञा पालन करने के लिए तेजी से दौड़ा जा रहा है। बहन भाई को, स्त्री स्वामी को, कन्या पिता को रणसाज सजा रही है। दल के दल भीलगण सज्जित हो मन्दिर के निकट आकर पड़ाव डाल रहे हैं। छोटे, बड़े सभी भील सरदार अपने २ सैनिकों को लेकर सेनापति झुमेलिया के सहायतार्थ आ रहे हैं। जो मन्दिर कल घोर निर्जन तथा विस्तृत वन में पड़ा था, आज उसी की चारों ओर सहस्रों भीलों का समागम हुआ है। आज उसी की चारों ओर मनुष्यों की हास्यध्वनि के साथ जयध्वनि हो रही है।

किन्तु सेनापति झुमेलिया अभी भी नहीं आया है, कई दिनों से उसका कुछ पता नहीं। जिस दिन से भील-राज्य में वंशी फिर रही है, उस दिन से उसे किसी ने कहीं नहीं देखा। अगर देखी जाती है, तो केवल उसकी वंशी। वह नहीं दीख पड़ता। वंशी को छोड़ कर झुमेलिया कहाँ लोप हुआ है, पता नहीं, समस्त भील-राज्य के हर एक घर में जब तक घूम कर वंशी उसके हाथ में न आवे, तब तक वह प्रगट नहीं होगा। और समय "भौंरा" मन्दिर के निकट भीलों की अधिक भीड़ देख कर कहीं छिप जाती। किन्तु इस बार वह भी नहीं छिपी। जान पड़ता है कुल भीलों को एक साथ देखने के लिये अब की बार उसके हृदय में कौतूहल उत्पन्न

हुआ है, इसी से वह इस बार उन लोगों के साथ एकदम मिल गई है। कभी हँसती है, फिर कभी रो देती है, कभी वह भीलों का दिया हुआ भोजन-सामग्री आहार करती है—कभी दस, बीस भीलों को लेकर उन्हें गान सुनाती है।

उससे सभी भक्ति करते हैं। कितने तो उसे साक्षात् माँ काली समझ पूजा करते हैं। अधिकांश भील उसे प्राण से भी अधिक प्यार करते हैं। कोई उसे वस्त्र, कोई उसे भूषण तथा कोई भोजनादि देता है। वे लोग जिस प्रकार मन्दिर में देवी की पूजा के निमित्त अपने शक्त्यनुसार वस्तु लाते, ठीक उसी प्रकार भौरा के निमित्त भी जो जहाँ तक उत्तम वस्तु पाते, लाते थे।

भीलों की "भौरा" को अनेकों ने पहचान लिया, भीलों का जातीय विषय कुछ भी न था। एक विषय में सब का सम अधिकार—इस प्रकार उन लोगों की कुछ भी कमी न हुई। इस समय एक एक करके तीन वस्तु जातीय विषयक हुई है। भीलों की काली, भीलों की भौरा, तथा भीलों के जुमेलिया ने समूचे देश में एक नवीन भाव का उदय किया है। आज भीलों ने एक साथ काली तथा भौरा को पाया है। इस समय सभी अपने जुमेलिया की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

सत्रहवाँ परिच्छेद ।

भौंरा गाती है—

बंशी बजाते हिय हुलसाते आते नन्दकिशोर ।
विरहातुर हो क्यों रोती क्या दया नहीं चितचोर ॥ बंशी॰—



चानक वह ताली बजा कर हँस पड़ी। फिर हँसतेहँसते उठ कर भागी । उसके मधुर गान से मोहित होकर सैकड़ों भील इकट्ठे हो गये थे। वे लोग आदर से राह छोड़ कर हटने लगे, भ्रमर ने शीघ्रता से मन्दिर में घुस कर किवाड़ बन्द कर लिया, जिसका शब्द वन में दूर तक चला गया। तब भीलगण भी अपने अपने कामों पर चले गये ।

अचानक भीलों की छावनी में एक आन्दोलन उपस्थित हुआ, जो जिस काम में नियुक्त थे, वे उस काम को उसी समय छोड़ झटपट युद्ध वेश से सुसज्जित हुए। उस समय सरदारों का चिल्लाचिल्ला कर आज्ञा देना, भीलों का उस आज्ञा का पालन करने के लिए दौड़ धूप करना इत्यादि बातों से छावनी भर में हलचल मच गयी। दल के दल भील गण सैनिक वेष से सरदारों की बगल में श्रेणीबद्ध हो हो कर खड़े हो गये ।

क्या दूर में कहीं शत्रुओं की सेनाएँ देखने में आई हैं?— नहीं, अभी तक नहीं। भीलगण ऊर्मिलिया की मधुर बंशी सुन रहे हैं। शीघ्र ही सेनापति उन लोगों के सामने प्रगट होंगे—इसी से वे लोग शीघ्रता से लड़ाई के सामान से सुसज्जित होकर खड़े हो रहे हैं ।

फिर भी वही मधुर वंशी की तान! क्या भीलगण इसे कभी भूलने को हैं? जान पड़ता है, कि वह सारे बन में अपनी मधुरता फैला रही है। जो वंशी पहले भीलों के हाथों हाथ दौड़ रही थी, यह उसी चिरपरिचित वंशी का चिरपरिचित स्वर है। इतनी देर के बाद वंशी फिर सेनापति के हाथ पहुँची है। वे वंशी पाकर बजा रहे हैं, सुतरां इसी समय वे प्रगट होंगे। जिस स्थान से वंशी की आवाज़ आ रही थी भीलगण उसे पहले नहीं जान सके, पीछे ज्ञात हुआ, कि मन्दिर के भीतर से ही मीठी तान उठ रही है। इससे उन सभों के हृदय में एक मर्म्मस्पर्शी भाव उदित हुआ। सभों का हृदय ज़ोर से धड़कने लगा।

इतने दिनों के बाद उन लोगों को विश्वास हुआ कि ज़ुमेलिया प्रत्यक्ष देवता है। उन लोगों की अधिष्ठात्री देवी नरमुण्ड-मालनी स्वयं ही ज़ुमेलिया का रूप धारण करके उन सभों की नेत्री हुई है। नहीं तो इस प्रकार अदृश्य भाव से प्रवेश करना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। सब कोई हर घड़ी मन्दिर के चारों ओर रहते हैं, किसी ने भी एक दिन पहले सेनापति को न देखा – तब किस प्रकार उसने मन्दिर में प्रवेश किया? केवल पगली भ्रमर ने ही कुछ देर पहले मन्दिर के भीतर प्रवेश करके द्वार बन्द किया है।

अचानक मन्दिर का द्वार खुला। अहा! सामने ही मन्दिर के द्वार पर ज़ुमेलिया! वही सुन्दर वेश—वही पीठ पर लटकता हुआ मृग-चर्म, वही धनुष तथा तूण (तरकस) कमर में उसी प्रकार शानदार तलवार झूल रही है। गले में वही स्फटिकहार, वीणा तथा वंशी भी विस्मरण नहीं हुए हैं। भीलवीर ज़ुमेलिया इन सब चीज़ों को लेने से कभी नहीं भूलता।

सेनापति जुमेलिया को देख कर भीलों ने गगन-विदीर्ण करने वाली जय-ध्वनि की। उन लोगों की जय-ध्वनि दूर प्रदेश तक प्रतिध्वनित हुई। वह वन की सीमा पर्यन्त वायु में मिल गई।

तत्पश्चात् जुमेलिया अति धीर, गम्भीर तथा मधुर स्वर से बोला,—"तुम लोग मेरी आज्ञा पालन के लिये सहमत हो कि नहीं, यह जानने के लिये मैंने तुम लोगों को इसके पहिले भी एकत्रित किया था। आज फिर एक वर्ष बाद तुम लोगों को यहाँ बुलाया है। युद्ध सामान से सदा प्रस्तुत रहने का अनुरोध करने के लिये ही इस बार तुम लोगों को कष्ट दिया गया है। शीघ्र ही मारवाड़ राज्य में घोर विप्लव उपस्थित होगा। मारवाड़ की गौरव-रक्षा न होगी, सम्भवतः मारवाड़ की स्वाधीनता भी यवन-पद-दलित हो जायेगी। हम लोग मारवाड़ के महाराणा से बहुत उपकृत हुए हैं। अभी भी बहुत उपकार पाने की आशा है—सुतरां हम सभों का मारवाड़ के गौरव तथा स्वाधीनता की रक्षा के लिये प्राण तक दे देना कर्त्तव्य है। हम लोगों की बुलाहट हो या न हो, हम लोग यह कार्य अवश्य करेंगे। अभी सब अपने २ घर जायें, जरूरत होने पर पुनः खबर दी जायेगी।"

फिर जयध्वनि से गगन गुंजायमान हो गया, चारों ओर से आनन्द कोलाहल उठने लगा। जुमेलिया धीरे २ मन्दिर से उतर कर भीलों के झुण्ड में मिल गया। अब उसकी वह गम्भीरता नहीं—वह नेतृत्व भाव नहीं, वह सेनापति का भाव नहीं है। इस समय वह सामान्य भील की तरह भीलों के साथ मिला हुआ है। वह उन सभों के साथ आमोद-प्रमोद में मस्त हो रहा है—उसका मधुर संगीत तथा वीणा-ध्वनि सुन कर भीलों ने आनन्द के

साथ उस समय को कानन में ही बिताया। दूसरे दिन भीलों ने डेरा तोड़ कर अपने २ घर का रास्ता लिया। फिर वह निर्जन वन उसी निर्जनता में परिणत हुआ—मन्दिर जैसा सूना था वैसा ही रहा। केवल निर्जन वन में भ्रमर का मधुर संगीत दूर २ में प्रतिध्वनित होने लगा। अकेली होने से भ्रमर जी खोल कर वन के पत्ती के समान गीत गाती हुई भ्रमण करने लगी।

अट्ठारहवाँ परिच्छेद।

सरस्वती अब वह सरस्वती नहीं है। पहले वह जैसी गम्भीरा थी रानी होने से उससे शत गुणा गम्भीरा हुई है। वह अब सखियों के साथ आमोद-प्रमोद में सम्मिलित नहीं होती; बहन सुभद्रा से भी कदाचित् ही कभी भेंट करती है। अब उस प्रकार मिट्टी या धूल का खेल वह बिल्कुल ही नहीं खेलती।

वह सदा अपनी कोठरी के भीतर ही चिन्ता में निमग्न रहती है, उसको क्या चिन्ता है? उसे वही जाने—सैकड़ों चेष्टाएँ करने पर भी कोई नहीं जान सकता। इससे विशेष हानि-लाभ किसी का नहीं था। यह ठीक है सही, किन्तु उसके भाव में परिवर्त्तन होने के कारण समस्त अन्तःपुर से आमोद-प्रमोद, सुख-शान्ति एक बारगी ही लोप हो गई है।

तब प्रसन्नता की कौनसी बात रह गई कि सरस्वती ने शीघ्र ही राजभवन परित्याग किया। महाराणा पुत्र को

केवल राजा की उपाधि प्रदान करके ही निश्चिन्त नहीं रहे, बल्कि उसे एक विस्तृत जागीर तथा एक सुन्दर महल दे वहाँ जाकर स्वाधीनतापूर्वक राजा के उपयुक्त भाव से वास करने की भी आज्ञा प्रदान की। राजकुमार कुमारसिंह ने सरस्वती के साथ उस महल में वास करने के लिये प्रस्थान किया। सरस्वती के जाते ही वहाँ फिर पूर्ववत् आमोद-प्रमोद होने लगा।

कुमारसिंह राजा हुए हैं—विस्तृत जागीर पाये हैं—अतएव इस उपलक्ष में एक आनन्दोत्सव नहीं करने से अच्छा नहीं मालूम होगा। इससे कुमारसिंह नये महल में आ कर महासमारोह से एक उत्सव की तैयारी करने लगे। बाजा-गाजा, नाच-गान, भोजन, जलपान प्रभृति नाना विधि से आमोद-प्रमोद का आयोजन होने लगा। देश के गण्य मान्य सभी आमन्त्रित हुए। महाराजा तथा युवराज दोनों ही कुमारसिंह के महल में पदार्पण कर आमोद-प्रमोद में लिप्त हो गये। कुमारसिंह इस उत्सव में पानी के समान धन खर्च करेंगे। जिससे इसमें किसी प्रकार की कमी न रह जाय, यही उनकी एकमात्र इच्छा है, कि मारवाड़ के गण्यमान्य सज्जन मात्र ही आमन्त्रित किये जायं, बल्कि देश की मध्यमा श्रेणी के लोगों के आमोद के लिये भी बहुत प्रकार का आयोजन हो, तथा दरिद्र, भिक्षुक प्रभृति के भोजन एवं अर्थदान का भी बन्दोबस्त किया जाय। इस उत्सव का संवाद समूचे मारवाड़ देश में फैल गया है; दल के दल नाना देशों से मनुष्य आ रहे हैं—देश देशान्तर से गरीब, भिखमङ्गों के दल का दल टूटा चला आ रहा है। उत्सव की पहिली रात में सरस्वती स्वामी के साथ बहुत ही आदर सेवा और प्रेम प्रकाश करने

लगी—ऐसा आदर सेवा तथा प्रेम कुमारसिंह ने आगे कभी नहीं देखा था। वे अपनी प्रियतमा के प्रेम में एकबारगी ही मुग्ध हो गये। सरस्वती अचानक बोल उठी,—"नाथ! तुम्हीं महाराणा होओगे"—इस बात से कुमारसिंह एकाएक चौंक उठे और बोले,—"सरस्वती! तुम यह बात फिर कभी मुझे न कहना। इस बात से मेरे सिर के भीतर मानों आग सी लग जाती है। प्राण कैसे कैसे करने लगता है। महाराणा होने की इच्छा मेरे हृदय में कभी भी नहीं होती, किन्तु उस मन्दिर में जब से उस मायाविनी की बात सुनी है, तभी से यह इच्छा मेरे हृदय में आप ही आप उठती है—सैकड़ों चेष्टायें करने पर भी उसे ठीक नहीं कर सकता। सरस्वती! तुम ऐसी बात मेरे आगे फिर कभी न बोलना।"

स्वामी की बात से सरस्वती के हृदय में अपूर्व आनन्द उत्पन्न हुआ; किन्तु उसने हृदय के भाव को छिपा कर कहा,—'वह स्त्री सचमुच देवी है। उसने जो कुछ कहा है ठीक कहा है, उसकी भविष्यद्वाणी अवश्य ही पूर्ण होगी।"

कुमारसिंह हठात् उठ कर बैठ गये, उसके बाद धीरे धीरे बोले,—"तो क्या मैं महाराणा होऊँगा! सचमुच महाराणा होऊँगा? किस प्रकार? अभी भी ललित जीवित है!" स्त्री की ये बातें तीर के समान लगीं। वे बहुत देर तक सरस्वती की ओर देखते रहे, फिर बोले,—"तुम्हारे सामने सच्ची बात कहने में हर्ज ही क्या? जिस दिन से मैंने यह महल और जागीर पाई है, उसी दिन से मेरे हृदय में एक अकथनीय आनन्द का अनुभव हो रहा है—मन में होता है—जब इसी में इतना सुख है, तो न जाने महाराणा होने में इसकी अपेक्षा कितना अधिक सुख होगा।"

सरस्वती—आप नहीं जानते हैं, मैं उसे बहुत दिनों से जानती हूँ।

कुमार०—सरस्वती! तुम मुझे क्या करने के लिये अनुरोध करती हो?

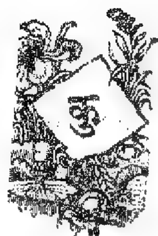
सरस्वती—क्या आप मेरी बात सुनेंगे? यदि सुनें तो कहूँ।

कुमार०—तुम्हारी बात नहीं सुनूँगा, तो इस संसार में और किसकी बात सुनूँगा?

सरस्वती—तब सुनिए, कहती हूँ।

अत्यन्त आदर और प्रेम के साथ सरस्वती, स्वामी का मस्तक हृदय पर धर आदर, प्रेम तथा लालसा मिश्रित मधुर स्वर से बोली,—"नाथ! तुम्हीं महाराणा होवोगे। ललित मूर्ख, सरल, डरपोक और युद्ध-विद्या से अनभिज्ञ है, उसमें महाराणा होने का कोई भी गुण नहीं है। तुम्हीं मेरे हृदय सर्वस्व मारवाड़ के महाराणा होने योग्य हो। तुम्हीं में महाराणा होने के सभी गुण वर्तमान हैं। इसी से स्पष्ट मालूम होता है, कि भगवान् की यही इच्छा है। पीछे तुम्हारे हृदय में कभी यह इच्छा न आवे, पीछे मारवाड़ के सिंहासन पर एक अपाहिज जीव बैठ न जाये, इसी से माँ सर्वमङ्गला ने तुमको बालिकारूप में दर्शन देकर तुम्हें यह बात सुनाई है। यदि तुम महाराणा न होवो, तो तुम्हारा ही दोष है।"

उन्नीसवां परिच्छेद।



कुमारसिंह बहुत देर तक चुप रह कर बोले,—"ललितसिंह अभी तक जीवित है—उसके रहते मैं किस प्रकार महाराणा होऊँगा?"

सरस्वती—उसके मरने में कितनी देर?

कुमारसिंह—मैं जानता हूँ कि जीवन अनिश्चित है, तब भी ललितसिंह जल्दी रेगा—इसका कौन ठिकाना?

सरस्वती सिंहनी के समान उठ बैठी और बोली,—नाथ! मैं तुम्हें वीर कह कर जानती थी। जानती थी कि स्ता साफ़ करके निज अभीष्ट सिद्ध कर सकते हो। जिस कार अन्यान्य वीर पुरुषों ने अपने २ बल और पराक्रम से हासनाधिकार प्राप्त किया है, उसी प्रकार तुम भी प्राप्त र सकते हो। किन्तु अब समझी, कि तुम घोर डरपोक था शक्तिहीन मनुष्य हो।"

बहुत देर चुप रहने के पश्चात् कुमारसिंह बोले,—ओह! सोचने से भी शरीर काँप उठता है! प्यारी! प्यारी ाणेश्वरी! तुम मुझे और अधिक प्रलोभित न करो, न जाने या करते क्या कर बैठूँ?"

सरस्वती—क्यों नाथ! डर काहे का है? तुम्हें क्या भय भा देता है? तुम महाराणा होओगे। यह देवता की इच्छा। तब इसके लिये थोड़ी चेष्टा या यत्न करना क्या तुम्हारा में नहीं है? प्यारे! मुझे तुम प्यार करते हो—मुझे महा-

रानी बनाने में क्या तुम्हारी ज़रा भी इच्छा नहीं होती ? क्या यही तुम्हारा प्यार है ?

"सरस्वती ! सरस्वती ! बहुत हुआ । मुझे और प्रलोभन में न फँसाओ ।"

सरस्वती—यदि प्रयोजन हो, तो मैं हर्ष से स्तन पीते हुए बच्चे को भूमि पर पटक मस्तक चूर २ कर सकती हूँ प्रयोजन होने से मैं अपने पिता के हृदय में भी तेज़ छूरा भोंक सकती हूँ । मैं जानती थी कि तुम वीर पुरुष हो !

यह कह घृणा से नासिका संकुचित करके क्रोध सहित सरस्वती स्वामी की बगल से उठ खड़ी हुई । डरे हुए बच्चे के समान कुमारसिंह ने स्त्री का अंचल पकड़ लिया । सरस्वती ने कहा,—

"छोड़ दो, तुम्हारा प्यार मालूम हो गया ।"

कुमारसिंह उठ बैठे और अति गम्भीर भाव से बोले,—सरस्वती ! तुम ठीक कहती हो, मैं कायर पुरुष से भी अधम हूँ । अपने को जो बड़ा करने में आनाकानी करे वह बड़ा भारी मूर्ख है ।"

सरस्वती—यही तो कुमारसिंह की बात है ।

कुमार०—तुम मुझे क्या करने को कहती हो" ?

सरस्वती—मेरी बात क्या सुनोगे ? मेरे विचारानुसार क्या चलोगे ?

कुमार०—तुम्हारे विचारानुसार नहीं चलूँगा, तो किस के विचारानुसार चलूँगा ?

सरस्वती—आज ललितसिंह हम लोगों के घर आवेगा, बस अनायास ही तुम अपना रास्ता साफ कर सकते हो ।

कुमार०—सरस्वती ! सचमुच ही तुम्हारा वीर-हृदय है ! ओह ! सोचने से हृदय काँप उठता है ।

सरस्वती—यदि तुम्हारा हृदय इतना नरम है, तो खबरदार कार्य्य में हाथ न लगाना, मैं भी मन को प्रबोध दे सकूँगी । सोचूँगी, जिस का मन इतना नरम है—इतना कमजोर है, वह मेवाड़ के महाराणा होने योग्य कदापि नहीं ।

कुमार०—आज बड़े ही आनन्द का दिन है, इसी से ललित मेरा अतिथि है ।

सरस्वती—ऐसे कार्य्य में न्याय-अन्याय कुछ भी नहीं देखा जाता । क्या युद्ध के समय भी तुम लोग न्याय अन्याय सोचा करते हो ?

कुमार०—ठीक कहती हो, यह कार्य्य मैं अवश्य करूँगा । अब डर नहीं । आज मैं मनुष्यरूप में राक्षस हुआ ।

सरस्वती—[गले में हाथ डाल कर] प्राणप्यारे ! तब आज से तुम मारवाड़ के महाराणा हुए ।

बीसवां परिच्छेद ।

कितनी सान्त्वना, कितना प्रबोध वाक्य, कितनी मीठी बात, किन्तु सुभद्रा मानती ही नहीं है । वह स्वामी के हृदय में मुँह छिपा अधीर होकर रो उठती है । रोएगी और न रोएगी—पीछे हाँ, कर ज़ोर से ओंठ दबाती है, जिससे उस गुलाबी ओंठ से रक्तधारा बहती है, तो भी आँखों का जल नहीं रुकता और

न रोना ही अन्त होता है । ललितसिंह अनेक प्रकार से समझा रहे हैं ।

आज मारवाड़ निवासी आनन्द से मत्त हो रहे हैं. आज राजा कुमारसिंह के घर में बड़ीही धूम धाम है. महाराणा अपने अनेकानेक सभासदों के साथ पुत्र के महल में गए हुए हैं । उनके साथ ललितसिंह के जाने की भी बात थी, किन्तु कारण वश वे ऐसा न कर सके । सुभद्रा ने उन्हें रोक रक्खा . वह कुछ कहती नहीं है, केवल रोती है । स्वामी का गला पकड़, व्याकुलता से कहती है,—"प्यारे तुम आज वहाँ न जाओ ।" न जाने ऐसा भाव आज क्यों है ? उसकी व्याकुलता से ललितसिंह भी अपनी आँखों से आँसू नहीं रोक सके । प्रियतमा सरल स्वभावा सरला को समझाने में भी उन्हें कुछ कम कष्ट नहीं हो रहा है ।

रोते २ कातर होकर सुभद्रा स्वामी के हृदय पर सो गई । बिना गये भी काम नहीं चलता । आज कुमारसिंह के घर पर न जाने से, कितने मनुष्य कितने प्रकार के विचार करेंगे, कितने मनुष्य कितनी ही अफ़वाहें उड़ावेंगे । बाबा भी न मालूम क्या सोचेंगे—ललितसिंह थोड़ी देर इन्हीं सब उधेड़ बुनों में पड़े रहे । फिर न जाने क्या सोच धीरे २ बड़ी सावधानी के साथ सुभद्रा का मस्तक अपने हृदय से हटा कर उस घर से बाहर हो गये । शायद सुभद्रा की नींद न टूट जाय; इसी भय से पीछे फिर कर भी न देखा और सीधे बाहर हो गये ।

कितने बाजे-गाजे बज रहे हैं । द्वार २ पर नौबत झड़ रही है । राजा कुमारसिंह का राजमहल रंग-बिरंगे अनेकों झाड़-फानूसों से सुशोभित हो रहा है । बाजा-गाजा तथा

नाच रंग के लिये हज़ारों मनुष्य महल के फाटक पर इकट्ठे हुये हैं। हठात् जनता के बीच गगन-विदीर्णकारी जयध्वनि हो उठी। दोनों बगल के आदमियों ने हट कर किसी के लिये मार्ग छोड़ दिया, चारों ओर महा गंडगोल उठा। 'युवराज ललितसिंह आते हैं।'

सैन्य तथा सेनापतियों से घिर कर ललितसिंह घोड़े पर चढ़े हुए महल में जा रहे थे, कि हठात् एक स्त्री उनके घोड़े के सामने आ कर खड़ी हो गई—पहरेदारों ने दौड़ कर उसे हटाना चाहा—किन्तु वह थी एक पगली—हाय! उसको देखने से कलेजा फटा जाता है। पहरेदार को उसका अङ्ग स्पर्श करने के लिये उद्यत देख कर ललितसिंह ने उसे छोड़ देने को कहा। उसके मुख को देखते ही ललितसिंह के हृदय में एक अनिर्वचनीय भाव का उदय हुआ।

वे घोड़े से उतर पड़े। धीरे २ पगली के निकट आ कर उसके हाथों को पकड़ लिया और बोले,—"तुम मेरे साथ आओ। आज से तुम को मैं यत्न से रक्खूँगा। अब कोई तुम्हें पगली कह कर विरक्त न कर सकेगा।" पगली ज़ोर से हँस उठी। वह हँसी रुकती ही न थी। उसकी हँसी से ललित-सिंह लज्जित से हुए—सभासदों की ओर फिर कर बोले;—"कोई इसे ले जाकर, यत्न से खाने-पीने को दें।" इस बार पगली हँसी नहीं—अति गम्भीर भाव से अहङ्कार सहित अपना मस्तक ऊंचा करके बोली,—"मैं कौन हूँ जानते हो?"

ललितसिंह के बोलने के पहिले ही उस भीड़ में से कोई बोल उठा,—"तुम कौन हो?" पगली ने उत्तर दिया,—"मैं हूँ मार-वाड़ की महारानी।" इस बात से भीड़ में चारों ओर हँसी फूट पड़ी। ललितसिंह यथार्थ ही इस बार लज्जित हुए; और

इस पगली के साथ पागल बनना अनुचित समझ झटपट महल में प्रवेश कर गये। पगली रो उठी। उसकी रुलाहट का शब्द तीक्ष्ण छूरे के समान ललितसिंह के हृदय में घुस पड़ा। वे चौंक कर पीछे फिरे। तब पगली उनकी ओर हाथ उठा कर बोली,—"ख़बरदार जाना मत! जाना मत!! जाना मत!!!" फिर वह उन्मादिनी की तरह रोती और नाचती हुई भीड़ में घुस पड़ी। उसके इस भयानक भाव को देख कर लोग डर से रास्ता छोड़ देने लगे। "जितनी हँसी, उतना रोना।" यही बात चिल्ला कर कहती हुई पगली ज़ोर से दौड़ती थी। उसकी यह भयङ्कर चीत्कार चारों ओर के बाजों को दबा कर आकाश में गूँजने लगी। महल के फाटक पर ललितसिंह के कान में भी यह शब्द पड़ा। वे वज्राहत के समान स्तम्भित होकर खड़े हो गये। सब कोई पगली की बातों से हँस रहे थे। किन्तु ललितसिंह के हृदय में यथार्थ ही एक अभूतपूर्व भय का सञ्चार हो रहा था। उन्होंने मन ही मन सोचा,—"आज अवश्य ही कोई भयानक अनिष्ट होने वाला है, नहीं तो मेरी सुभद्रा इस प्रकार क्यों रो उठती?"

दो क़दम आगे बढ़ युवराज ललितसिंह ने सभासदों से पूछा,—"यह पगली कौन है? इसको आप लोगों में से किसी ने कभी देखा है?" एक ने कहा,—"युवराज! यह भीलों की भौरा है।"

इक्कीसवाँ परिच्छेद।

भीलों की भौंरा! कह कर ललितसिंह खड़े हो गये। वे प्रायः दरबार के आँगन में पहुँच गये थे, किन्तु तो भी वहाँ ही खड़े होकर सभासदों से पूछा,—"भीलों की भौंरा क्या?"

जिन्होंने पगली को भौंरा कह कर परिचय दिया था, वे एक समय बहुत दिन तक अहमदाबाद में रहे थे। अनेक बार ये महाराणा के दूत होकर भीलों के यहाँ गये थे। इसी से उन्होंने भीलों का पूजा स्थान, देवमन्दिर भी देखा था और वहीं भ्रमर भी उनको देखने में आयी थी। भौंरा के विषय में जो कुछ वे जानते थे, युवराज से कह सुनाये। सुन कर ललितसिंह चिन्तित हुये। उन्होंने कहा,—"इस पगली को मैं और एक बार देखना चाहता हूँ—आप लोगों में से कोई इसका अनुसन्धान करें।"

किन्तु अनुसन्धान करने की आवश्यकता न हुई। वहाँ से भ्रमर तेजी से दौड़ कर महल में घुस आई। वह भाग कर सभा प्राङ्गण में घुसना चाहती थी। आमोदोत्सव के समय राजसभा में छिन्न-वसना उन्मादिनी को प्रवेश करते देख प्रहरीगण उसे बाधा दे रहे थे; उसके पीछे २ प्रायः बीस तीस मनुष्य दौड़ पड़े, किन्तु कोई उसे पकड़ कर रख न सका।

पगली के शरीर में असीम बल है। पहरेदारों के छूने पर वह इस ज़ोर से धक्का मारती है, कि वे छटक कर दूर जा गिरते हैं। ५-६ मनुष्यों के एक साथ पकड़ने पर भी

वह सहज ही छुड़ा कर भाग जाती है। जब सभा-प्राङ्गण के छोर पर ललितसिंह खड़े होकर सभासदों से पगली की खोज करने के लिये कह रहे थे, ठीक उसी समय पहरेदारों का पगली के साथ इसी प्रकार बाहुयुद्ध हो रहा था। जिस से वहाँ बड़ा ही हल्लागुल्ला हो उठा।

ललितसिंह आज भयभीत हैं, वे सचमुच ही हल्ले का कारण न समझ कर शीघ्रता से सभा में चले गये। उनको देख कर महाराणा ने कहा,—"ललितसिंह! बाहर किस बात का हल्ला हो रहा है?" ललितसिंह को हल्ले का कारण मालूम नहीं था। बोले,—"इस बात का पता लगाने के लिये मैं आदमी भेज चुका हूँ।" उनकी बात समाप्त होते न होते, पहरेदारों के हाथ से छूट कर भ्रमर तेजी से सभा-भवन में पहुँच गई। वह दौड़ती हुई एकाएक महाराणा के सिंहासन के सामने खड़ी हो ताली बजा २ कर नाचते हुए बोली,—"हट जाय, मैं मारवाड़ की महाराणी हूँ।"

हठात् विषधर काले साँप को रास्ते पर देखने से पथिक जिस प्रकार चौंक उठता है, अकस्मात् सामने वज्रपात होने से मनुष्य का जैसा भाव होता है—अचानक अलक्षित तीर हृदय में विद्ध होने से जो क्लेश होता है—पगली को देख कर कुमारसिंह की भी ठीक वही दशा हुई। वे बैठे हुए थे—एक व एक उठ खड़े हुए। आप ही आप उनका हाथ लटकती हुई तलवार पर जा पड़ा, वे म्यान से तलवार प्रायः आधा निकाल चुके थे। अचानक परम शत्रु को सामने देख कर आत्म-रक्षा के लिये मनुष्य स्वभावतः जैसा करता है, कुमार-सिंह ने भी ठीक वैसा ही किया। केवल यही नहीं, उन्हें बोध हुआ, मानो बालिका उनके हृदय में छूरा मारने को तैयार

हुई है। अचानक अपनी आँखों पर शानदार तीक्ष्ण छूरी चमकते देखा—क्षण भर में उनका आत्मज्ञान लोप हो गया।

एक दिन दक्षिण देश में सोये हुए में उन्होंने जो स्वप्न देखा था—ठीक आज जागते हुये पर भी वही स्वप्न देख रहे हैं। जिस बालिका की छाया मात्र देख कर वे भय से कायर के समान शिविर छोड़ कर मारवाड़ भाग आये थे, वही बालिका आज उनके उत्सव के दिन में ख़ास उनके महल में ही उन्हीं के सामने उपस्थित है। वे इस जीवन में क्या कभी उस मुखड़े को भूल सकते हैं!

बाईसवाँ परिच्छेद।

कुमारसिंह मन्त्रमुग्ध की तरह अपने को भूले हुए थे। क्षण भर में उन्होंने बालिका का मस्तक लक्ष करके तलवार उठायी; सामने नारी-हत्या होती है, देख कर चारों ओर के मनुष्य हाहाकार कर उठे। सभीत, विस्मित तथा स्तम्भित हुए। बूढ़े महाराणा "कैसा सर्वनाश" कह कर चिल्ला उठे; चारों ओर महाकोलाहल हो उठा।

किन्तु कुमारसिंह की तलवार पगली के माथे पर न पड़ कर, एक दूसरी तलवार से भिड़ आग की चिनगारियाँ उड़ाने लगी। पल भर में ललितसिंह ने अपनी तलवार से कुमारसिंह की उठी हुई तलवार की गति रोध किया था। जिन दोनों में इतना सद्भाव, कई एक दिन पहिले जो सभा

में प्रेम पूर्वक मिले थे—आज वे ही दोनों सभा में बूढ़े महाराणा के सामने, उन्हीं के सिंहासन के बगल में, आपस में युद्ध करने को प्रस्तुत हैं। दोनों खुली तलवार हाथ में लिये खड़े हैं। भ्रमर भाग कर ललितसिंह से लिपट गई, उनके हृदय से लग बिलख २ कर रोने लगी। ललितसिंह बायें हाथ से उसे पकड़ कर दहिने हाथ में तलवार लिये, युद्ध के लिये पूर्णरूप से तैयार थे।

इस उत्सव में दोनों का यह भाव देख कर सभा के सभी मनुष्यगण स्तम्भित हुए, सभी मौन तथा अचल थे—किसी के मुँह में बात नहीं। अन्त में ललितसिंह बोले,—"बाबाजी! इस अनाथिनी बालिका को शरण देना, मैंने स्वीकार किया है। विशेष करके यह उन्मादिनी, अति दुःखिनी, भिखारिणी है, इसके ऊपर आपका इतना क्रोध क्यों? आज उत्सव के दिन में आ कर इसने हम लोगों को व्यस्त किया है, कह कर ही यदि इसके ऊपर इतना क्रोधित हुए हैं, तो इसे दूसरी जगह भेज देने ही से अच्छा होता। यह पगली है, इसे भला बुरा का क्या ज्ञान?"

महाराणा भी विचलित होकर बोले,—"कुमार! तुमको कभी भी आत्म विस्मृत होते नहीं देखा, तुम अभी स्त्री-हत्या करके मारवाड़ के पवित्र क्षत्रिय वंश को कलङ्कित करने को उद्यत थे।

कुमारसिंह का मुँह लज्जा से लाल हो गया। वे धीरे २ तलवार म्यान में रख कर बोले,—"पिताजी! मैं आपके सामने क्षमा प्रार्थना करता हूँ। आज मैंने क्या किया है और क्या कर रहा हूँ, इसका मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं। इस समय लज्जा से लोगों के सामने मुंह दिखाने में भी कष्ट हो रहा है।"

फिर वे सभासदों की ओर फिर कर बोले,—"आप सभों के निकट भी मैं क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।"

उस समय भी भ्रमर ललित की छाती में मुँह छिपा कर रो रही थी। ललितसिंह ने कहा,—"महाराज! यदि आज्ञा हो, तो मैं इस पगली को लेकर दूसरी जगह जाऊँ। इसके यहाँ रहने से आज न मालुम क्या का क्या हो जाय।" बूढ़े महाराणा ने सोचा—ललितसिंह के सभा छोड़ कर जाने से हम लोगों की विशेष क्षति होगी। सभी सोचेंगे—अवश्य ही कुमारसिंह तथा ललितसिंह में पहले जैसा सद्भाव नहीं है। इसी से वे सब को आमोद में लीन रखने के लिये पगली का भार अपने ही ऊपर लेने को प्रस्तुत हुए। वे हँस कर बोले,—"मुझ को ठीक याद है, पगली ने कहा है कि "मैं मारवाड़ की महारानी हूँ।" मारवाड़ की महारानी माड़वार के ही सिंहासन पर बैठेगी। आओ महारानी! तुम भी मेरे बगल में बैठ कर आज कुमारसिंह का उत्सव देखो।" यह महाराज की रसिकता है, उसमें हँसी न होने पर भी हँसना होगा, इस लिये महाराणा की बात से सभी हँसने लगे।

भ्रमर ने धीरे २ ललितसिंह के हृदय से मुख उठा मुड़कर महाराणा की ओर देखा—फिर मन्द २ गति से सिंहासन के ऊपर जा महाराणा के बगल में बैठ गई। तब महाराणा ने उसे आदर कर के कहा,—"बैठो, तुम मेरे पास बैठी रहो—किन्तु देखना गोलमाल न करना। ऐसा करने से सभी तुम्हारी निन्दा करेंगे।" फिर महाराणा ने भ्रमर की ठुड्डी पकड़ मुख ऊपर उठा कर पूछा—"तुम कौन हो? भ्रमर ने कहा,—"तुम मुझे पहिचान नहीं सकते हो क्या? मैं माड़वार की महारानी हूँ!" पगली की बात सुन सभी हँस उठे; महाराणा भी